

THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178865

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—43—30-1-71—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H. 83** Accession No. **G.H. 1603**

Author **M 67 V**

Title **मिम, ठाकुरदत्त /
वांचिता.**

This book should be returned on or before the date last marked below.

सरस्वती-सिरीज़

स्थायी परामर्शदाता—डा० भगवानदास, पण्डित अमरनाथ झा, भाई परमानंद, डा० प्राणनाथ विद्यालङ्कार, श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार, पं० द्वारिका-प्रसाद मिश्र, संत निहालसिंह, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबू संपूर्णानन्द, श्री बाबूराव विष्णुपराङ्कर, पण्डित केदारनाथ भट्ट, व्यौहार राजेन्द्रसिंह, श्री पट्टमलाल पुत्रालाल बख्शी, श्री जैनेन्द्र कुमार, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, पण्डित क्षेत्रेश चटर्जी, डा० ईश्वरीप्रसाद, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, डा० परमात्माशरण, डा० बेनीप्रसाद, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, पण्डित रामनारायण मिश्र, श्री संतराम, पण्डित रामचन्द्र शर्मा, श्री महेश-प्रसाद मौलवी फ़ाजिल, श्री रायकृष्णदास, बाबू गोपालराम गहमरी, श्री उपेन्द्र-नाथ “अशक्त”, डा० ताराचंद, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश, श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, रायसाहब पण्डित श्रीनारा-यण चतुर्वेदी, रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित सुमित्रानन्दन पंत, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पण्डित मोहनलाल महतो, श्रीमती महादेवी वर्मा, पण्डित अयोध्या-सिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’, डा० पीताम्बरदत्त बडधवाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, बाबू रामचन्द्र टंडन, पण्डित केशवप्रसाद मिश्र, बाबू कालिदास कपूर, इत्यादि, इत्यादि ।

आधुनिक उपन्यास

वंचिता

अनुपम आत्म-त्याग और तपस्या के भावों से ओत-प्रोत
एक मनोरंजक सामाजिक उपन्यास

ठाकुरदत्त मिश्र

यदि आप अभी तक इस सिरीज़ के ग्राहक नहीं बने हैं,^१
ग्राहक बनने में शीघ्रता कीजिए; या पुस्तक के पृष्ठभाग
पर दी हुई सूची में से अपनी पसंद की पुस्तकें चुनकर
अपने स्थानीय पुस्तक-एजेंट से लीजिए ।

सरस्वती-सिरिज़ नं० २३

वाचिता

ठाकुरदत्त मिश्र



हिन्दी पुस्तक भण्डार

मन्नालाल भार्गव, जी., लिपाणी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस लिमिटेड

प्रयाग

**Printed and Published by K. Mitra,
at The Indian Press, Ltd., Allahabad.**

वंचिता

पहला परिच्छेद

मनोहरपुर के जमींदार-परिवार के कुल-देवता राधाकृष्ण का मन्दिर बहुत ही सुन्दर था। जैसे सुरुचिपूर्ण ढंग से वह सजाया गया था, वैसी ही कुशलता के साथ उसका निर्माण भी किया गया था। इस कारण साधारण दर्शकों के समान ही कवि तथा चित्रकार भी मन्दिर की भव्यता तथा उस पर किये गये शिल्प-कार्य की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते थे।

सई नदी का मनोहर तट था। सुविधापूर्वक स्नान करने के लिए वहाँ पर एक पक्का घाट बनाया गया था। घाट की सीढ़ियों के ऊपर एक बहुत बड़ा चबूतरा था; जिसके दोनों किनारों पर बैठने के लिए संगमरमर की दो चौकियाँ बनी थीं। पास ही लोहे का एक फाटक लगा हुआ था, जिसके माथे पर रात को एक बड़ी-सी लालटेन में रंगीन बत्ती जला करती थी।

चबूतरे पर से एक खूब सजे हुए बगीचे का कुछ अंश दिखाई पड़ता था। बगीचा बहुत बड़ा था। उसका कुछ भाग ऐसा था, जिसमें कि विभिन्न प्रकार के फलों के वृक्ष लगे हुए थे, शेष भागों में तरह-तरह के फूलों की क्यारियों के अतिरिक्त कहीं लता-कुञ्ज, कहीं गुल्म-भवन, कहीं बैठने के लिए पत्थर के आसन तथा नायक-नायिका की दर्शनीय मूर्तियाँ आदि बनी थीं। बगीचे में जो रास्ते थे, उनके आस-पास थोड़ी-थोड़ी दूर पर लालटेनें गड़ी थीं।

इस सुविशाल और सुसज्जित बगीचे के मध्य भाग में संगमरमर का एक सुन्दर चबूतरा था। चबूतरे के ठीक बीच में वह मन्दिर नील

आकाश की ओर मस्तक उठाये खड़ा था। ज्योत्स्नामयी यामिनी चन्द्रमा की किरणों जहाँ मन्दिर की दीवारों पर प्रतिफलित होकर अपूर्व आभा का विस्तार करतीं, वहीं सुवर्ण की पीताम्बर से संयुक्त सुवर्ण की चूड़ा सूर्य की प्रखर किरणों से टकराकर एक अपूर्व छटा विकीर्ण किया करती थी। वर्षा की जलधारा तो संगमरमर के बने हुए मन्दिर के उस शुभ्र अंग को धोकर चबूतरे पर गिरकर ऐसी जान पड़ती कि मानो ऊपर टँगी कोई माला टूट गई है और उसके धागे में से निकल-निकलकर मोती गिर रहे हैं। जिस द्वार से मन्दिर में प्रवेश करना होता था, उस पर सोने की चद्दरें जड़ी थीं। उसके ऊपर मणिमय अक्षरों में मन्दिर के संस्थापक का नाम तथा उसकी स्थापना की तिथि लिखी हुई थी। उससे ज्ञात होता था कि यह मन्दिर स्थापित हुए अभी बहुत अधिक दिन नहीं हुए।

मन्दिर के भीतर सुवर्ण के उत्तम आसन पर मन्दिर के अधीश्वर की युगल मूर्ति पास ही पास संस्थापित थी। पीताम्बर श्याममूर्ति बाईं ओर ज़रा-सा झुककर सुवर्ण की वंशी बजा रही है और उसी वंशी के स्वर में लीन होकर राधा उन्मादिनी के समान दौड़ी आई श्याम-सङ्गिनी होने के लिए। मन्दिर में स्थापित मूर्तियों का निर्माण करते समय यही आदर्श चित्त-पट पर अङ्कित था निर्माता के। यही कारण था कि इन मूर्तियों में इतने पवित्र भाव का समावेश हो पाया है। संसार के मोह-जाल में फँसा रहकर जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और इस संसार को ही अपना घर समझकर उसी में तल्लीन रहता है। परन्तु जिस दिन जीवन-रूपी यमुना के लबालब भरे हुए तट से वंशी का आह्वान कानों से होकर उसके अन्तःकरण में प्रवेश करता है, उसी दिन एक क्षण में उसकी समस्त भ्रान्ति का अवसान हो जाता है। उस समय लज्जा, मान तथा भय आदि का परित्याग करके वह देहरूपी केचुल को छोड़ देता है और बद्ध आत्मा मुक्त आत्मा के साथ मिलने के लिए दौड़ पड़ता है। अन्त में वह आर्काक्षित मिलन प्राप्त हो जाने पर सारी व्याकुलता से उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

मन्दिर में जिस स्थान पर उपर्युक्त मूर्तियाँ स्थापित थीं उनके सामने एक चड़े-से सुवर्ण के अष्टदल कमल पर पुष्प-चन्दन तथा तुलसीदल आदि से सुशोभित शालिग्राम शिला का आमन था। इससे ज़रा-मा और हटकर कमल के आकार में मफ़ेद और काले पत्थर से बने हुए हर्म्य के नीचे सुवर्ण के पात्र आदि यथोचित स्थान पर सजाकर रखे हुए थे। कहीं ज़रा भी बेतुकापन नहीं था।

अपनी कीर्ति को चिरस्थायी करने के लिए स्वर्गीय ज़र्मीदार ने इसी मन्दिर का निर्माण करवाया था और अपनी सारी सम्पत्ति भी इस मन्दिर में लगा दी थी। अपने 'विल' में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि अमुक प्रकार से पूजा तथा उत्सव आदि का विधान करने के बाद सम्पत्ति की आय से जो कुछ बचत होगी, उसे अपने निर्वाह के लिए मेरे उत्तराधिकारी प्रसाद के रूप में ग्रहण कर सकेंगे। इस सम्पत्ति का कोई भी अंश बेचने या दान करने का अधिकार उन्हें न होगा।

इस मन्दिर के अतिरिक्त एक अतिथिशाला तथा उच्चकोटि की एक संस्कृत-पाठशाला भी उन धर्मपरायण ज़र्मीदार के यश की घोषणा कर रही थी। पाठशाला के अध्यापक जगन्नाथ वैयाकरण-केसरी भी संस्थापक की इच्छा के अनुसार आज तक देवता की सेवा-पूजा के कार्य में नियुक्त थे। विल में लिखा था कि वैयाकरण-केसरी महोदय आजन्म इस मन्दिर के पुजारी रहेंगे। उनकी मृत्यु के बाद उनका मनोनीत कोई उनका शिष्य इस पद पर नियुक्त किया जायगा। इसी प्रकार भविष्य में भी केवल आस्तिक और शास्त्र के अधिकारी विद्वान् ही इस मन्दिर के पुजारी हो सकेंगे और ऐसे लोगों को ही पुजारी का निर्वाचन करने का अधिकार होगा। आस-पास के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की दृष्टि में यदि कोई पुजारी अयोग्य सिद्ध होगा तो मेरे उत्तराधिकारी उसे हटाकर किसी दूसरे व्यक्ति को पुजारी बना सकेंगे किन्तु वह नियुक्ति हमारी पाठशाला के विद्यार्थियों में से ही होनी आवश्यक होगी। यह व्यवस्था कार्य को बहुत ही सुव्यवस्थित रूप से चलाने के विचार से की गई थी, किन्तु

प्रारम्भ में ही इसके कारण अव्यवस्था हो गई। उस अव्यवस्था का ही हाल बताना यहाँ अभीष्ट है।

इस पाठशाला में देवनाथ नामक एक विद्यार्थी था। अवस्था उसकी बहुत थोड़ी थी। वह बहुत ही शान्त, शिष्ट तथा नम्र था। उस पाठशाला के अपने आठ मास के ही जीवन में देवनाथ ने पाठशाला के अध्यापक महोदय से लेकर पास-पड़ोस तक के लोगों को अपने गुणों से मुग्ध कर लिया, केवल थोड़े-से विद्यार्थी ही अवश्य उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाये।

देवनाथ के सद्गुणों के कारण पाठशाला के विद्यार्थियों ने उसे इतना पुरस्कार अवश्य दिया था कि गुरु की सेवा का सारा भार उसी पर छोड़कर वे निश्चिन्त हो गये। गुरु जी की सुख-सुविधा के छोटे-से छोटे कार्यों से लेकर भोजन तक बनाने का भार आजकल देवनाथ पर ही था, इससे अन्य समस्त विद्यार्थी बहुत कुछ शान्ति से जीवन व्यतीत कर रहे थे। परन्तु देवनाथ को इससे किसी प्रकार का क्लेश नहीं हुआ। सूर्योदय से बहुत पहले उसकी निद्रा भंग हो जाती। वह तुरन्त ही उठकर प्रातः कृत्य से निवृत्त हो लेता और किसी एकान्त स्थान में जाकर अपने पाठ का अभ्यास करने में तन्मय हो जाता। कल-कल निनाद करके बहनेवाली नदी के तट की प्रातःकाल की मुखर तथा सौन्दर्यमयी प्रकृति उसका ध्यान आकर्षित करने में किसी प्रकार भी समर्थ न हो पाती।

प्रातःकाल पाठ-अभ्यास कर लेने के बाद देवनाथ गुरु जी की सेवा में लग जाता। मन्दिर की पूजा से निवृत्त होकर वे जैसे ही पाठशाला में लौटकर आते, उन्हें भोजन तैयार मिलता। देवनाथ जब से पाठशाला में आया है तब से ठीक समय पर भोजन न मिल सकने के कारण लुधा और पिपासा से व्याकुल रोगी तथा वृद्ध गुरु जी को अपनी अवस्था-सुलभ भुँगलाहट प्रकट करने की आवश्यकता कभी नहीं पड़ी। देवनाथ को जब कभी डाँट खानी पड़ी है तब अपने दूसरे साथियों के कारण।

स्वयं उसने गुरु जी की सेवा में कभी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने दी ।

समय इसी प्रकार बीत रहा था । अन्त में लगभग एक मास तक रोगशय्या पर पड़े रहने के बाद एकाएक एक दिन वैयाकरण-केसरी महोदय ने इस लोक से अपना साग सम्बन्ध परित्याग कर दिया । जिस सुदूर लोक के लिए उन्होंने यात्रा की थी, वहाँ तक पहुँचने के लिए उपयुक्त पाथ्य का संग्रह वे कर पाये थे या नहीं, यह उनकी गठरी खोलकर देखा नहीं जा सका, परन्तु उनकी मृत्यु के बाद कई दिनों तक चर्चा यही थी कि वे बहुत ही शुद्ध आचरण के ब्राह्मण थे, इसलिए सीधे स्वर्ग ही पहुँचेंगे । वैयाकरण-केसरी महोदय की आस्तिकता तथा पवित्रता की प्रशंसा में लोग प्रायः कहा करते—देवता की सेवा-पूजा या अन्य प्रकार के धार्मिक कृत्य में यदि किसीसे ज़रा भी त्रुटि होती या कोई ज़रा भी उनके शरीर की छाया तक का स्पर्श कर लेता कि वे क्रोध से अधीर हो उठते । मानो वे उस युग के साक्षात् दुर्वासा ऋषि थे ।

इधर वैयाकरण-केसरी का रोग जब अधिक बढ़ गया तब से लेकर उनकी मृत्यु तक पाठशाला के विद्यार्थियों से लेकर मनोहरपुर के निवासियों तक में इस बात की बड़ी उत्सुकता थी कि इन्होंने अपना उत्तराधिकारी किसे मनोनीत किया है । आद्याप्रसाद इस पाठशाला का सबसे पुराना विद्यार्थी था और लोगों के हृदय में इस बात का दृढ़ विश्वास था कि गुरु जी इसे ही मन्दिर की पूजा-सेवा तथा अध्यापन के कार्य के लिए मनोनीत करेंगे । इतने पर भी आशा की एक क्षीण रेखा उच्च श्रेणी के प्रायः सभी विद्यार्थियों के हृदय में वर्तमान थी । परन्तु उनकी मृत्यु के बाद लोगों ने इस सम्बन्ध में जो समाचार सुना उसके कारण सबके सब दंग रह गये । गुरु जी ने अपना उत्तराधिकार तक इस नवीन विद्यार्थी देवनाथ को ही समर्पित किया ।

एक ही साथ पाठशाला के कितने विद्यार्थियों की भृकुटि टेढ़ी हो गई । वे सब परस्पर कहने लगे—कितने दिनों तक हम लोगों ने गुरु जी

की सेवा की है, कितने बार तीखी से तीखी बातें हम लोगों को कहकर उन्होंने अपनी भुँभलाहट शान्त की है और हम लोगों ने कभी मुँह तक नहीं खोला। इधर तीन दिन से आकर देवनाथ ने उनकी ज़रा-सी सेवा कर दी और वह सब कुछ हो गया ! आज से वह हमारा गुरु हो गया। हम लोग अब उसकी आज्ञा का पालन करेंगे और चन्दन-अक्षत से उसकी पूजा करेंगे ! असम्भव ! यह कभी नहीं हो सकता।

विद्यार्थी लोग दल बनाकर ज़मींदार के पास गये। उन सबने अपने दिवंगत गुरु के निर्णय का प्रतिवाद करते हुए कहा—देवनाथ अभी कल का लड़का है। शास्त्र पर अभी वह कुछ अधिकार भी नहीं कर पाया है। अभी उसे यहाँ आये हुए ही कितने दिन हुए ! उसके द्वारा भला कभी अध्यापन-कार्य हो सकता है ? यह निर्वाचन उचित नहीं हुआ है। हम लोगों में से ही किसी का अध्यापक-पद पर नियुक्त करना उचित होगा। परन्तु स्थिति को स्पष्ट करने हुए, ज़मींदार ने इस विषय में हस्तक्षेप करने में असमर्थता प्रकट की। अन्त में सारा क्रोध और क्षोभ मन ही मन दाबकर विद्यार्थियों का दल अपने स्थान पर लौट आया।

गुरु के इस निर्णय के कारण देवनाथ स्वयं कम लुब्ध नहीं हुआ। अपने आपको बढ़ाने की इच्छा तो क्षण-मात्र के लिए भी उसके हृदय में स्थान पा नहीं सकी थी, इससे यह समाचार पाते ही वह चकित हो उठा। वह यह नहीं स्थिर कर सका कि गुरुजी ने अकस्मात् ऐसा निर्णय क्यों किया है ? तो क्या मैं इस पाठशाला के प्राचीन विद्यार्थियों की इतने दिनों की आशा पर कुठाराघात करने के ही लिए अकस्मात् एक पापग्रह के रूप में यहाँ आ पहुँचा हूँ ! ज़मींदार महोदय के पास जाकर उनसे मुलाकात करने में देवनाथ को न जाने कैसा सङ्कोच-सा मालूम होने लगा। परन्तु उनसे मिले बिना भी उसे शान्ति नहीं थी। अध्यापक का श्राद्ध आदि हो जाने पर जब उसने कार्य-भार ग्रहण कर लिया तब कई दिनों के सङ्कल्प-विकल्प के बाद एक दिन पूजा से

निवृत्त होने पर देवता का प्रसाद लेकर देवनाथ दरबार में उपस्थित हुआ ।

ज़मींदार महोदय उस समय बिलकुल अकेले थे । नौकर को आसन लाने का आदेश करके वे स्वयं देवनाथ की आकृति का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने लगे । उन्हें यह देखकर सन्तोष हुआ कि एक सौम्य प्रकृति के ब्राह्मण में जिस प्रकार के सद्गुणों का होना आवश्यक है, वे सभी इस युवक में वर्तमान हैं, किन्तु अध्यापक के सम्मानित पद के उपयुक्त अवस्था इसकी अवश्य नहीं है । इससे उन्हें इस बात पर आश्चर्य होने लगा कि कौन-सा ऐसा कारण था, जिससे कि दिवंगत वैयाकरण-केसरी जी ने इस तरुण युवक को अध्यापक तथा पुजारी के पद के लिए मनोनीत किया है ?

आसन ग्रहण कर लेने के बाद देवनाथ ने बहुत ही विनीत शब्दों में निवेदन किया कि जिन दायित्वपूर्ण कार्यों का भार मुझे दिया गया है, उनका सुचारु रूप से सम्पादन करने की योग्यता मुझमें नहीं है । इसलिए यदि कृपापूर्वक यह कार्य-भार किसी अधिक योग्य व्यक्ति को सौंपते तो अच्छा था । देवनाथ की इस प्रार्थना के उत्तर में ज़मींदार महोदय ने अपनी असमर्थता प्रकट की और कहा कि तुम्हारे गुरु जी ने इन कार्यों के उपयुक्त समझकर ही तुम्हें मनोनीत किया होगा । अब मैं तुम्हें केवल इस दशा में ही पदच्युत कर सकूँगा जब कि तुम यहाँ के निवासियों की दृष्टि में अध्यापन तथा देवता की सेवा-पूजा का कार्य-सञ्चालन करने के लिए अयोग्य प्रमाणित होगे ।

यह सुनकर देवनाथ आसन से उठकर खड़ा हो गया । ज़मींदार से बिदा माँगते हुए अपने प्रशान्त नेत्रों की दृष्टि में प्रसन्नता का भाव विकसित करके उसने कुछ दृढ़ता के साथ कहा—स्वेच्छा से कर्त्तव्य-पालन में मैं किसी प्रकार की त्रुटि न होने दूँगा । इस उपाय से मुक्ति प्राप्त करने की कामना मुझमें नहीं है । अब मैं गुरु के आदेश को ही शिरोधार्य करता हूँ ।

दूसरे दिन देवनाथ पाठशाला में अध्यापक के आसन पर बैठा । जो बच्चे-बच्चाये विद्यार्थी थे उन्हें वह पढ़ाने लगा । किन्तु उन सबने अन्यमनस्क भाव से ही पोथी खोली । इधर आद्याप्रसाद अपना दल लेकर रात को ही पाठशाला से निकल गया था । पाठशाला से उठने के बाद पहले के ही समान वह जाकर चौके में जुट गया, किसी विद्यार्थी ने उसे सहायता देने की ज़रा भी आवश्यकता का अनुभव नहीं किया, बल्कि वे सब चुपके-चुपके उसकी खिल्लियाँ ही उड़ाते रहे ।

दूसरा परिच्छेद

मनोहरपुर का बाज़ार नदी-तट से कुछ कम या अधिक आध कोस की दूरी पर था। ज़मींदार की कोठी के पास से बीच बाज़ार से होती हुई एक पतली-सी कच्ची सड़क स्टेशन को गई थी। दोनों पटरियों पर आम और पीपल आदि के वृक्ष लगे हुए थे। उनकी घनी छाया में वह सड़क दीर्घकाय अजगर के समान निश्चिन्त भाव से विश्राम कर रही थी। बाज़ार के दिन पंसारी तथा साग-तरकारीवाले सिर पर बाँझा लादे हुए, अपनी दूकानें ले जाते। अनाज आदि लादे हुए बैलगाड़ी-वाले धुरी में जुते हुए बैलों या भैंसों के प्रति साधुभाषा का प्रयोग करते-करते धीरे-मन्थर गति से स्टेशन जाया करते थे। बीच में यदि कहीं उसी प्रकार की दो गाड़ियाँ आपस में टकरा जातीं तो गाड़ीवान लोग भी परस्पर साधुभाषा का विनिमय करके सड़क को मुखरित कर दिया करते थे।

मनोहरपुर की आधी बस्ती सड़क के इस पार थी और आधी उस पार। गाँव में दस-पाँच उन्नतिशील व्यक्तियों को छोड़कर और सब प्रायः निर्धन और बहुत साधारण स्थिति के ही गृहस्थ निवास किया करते थे। इसलिए वहाँ कच्चे घरों की अधिकता थी। परन्तु फिर भी उस गाँव में लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि का थोड़ा-बहुत चिह्न दिखाई पड़ता था। सभी घरों के आस-पास दो-चार बीघे में फल-फूल और साग-सब्ज़ी लगी हुई दिखाई पड़ती। घर साफ़-सुथरे रहते, गाय-बैल, भैंस तथा भेड़-बकरी आदि के भी मुँड के मुँड दिखाई पड़ते।

गाँव के ठीक मध्य भाग में मनोहरपुर का बाज़ार था। दूर तक खूब बड़े-बड़े छप्पर पड़े हुए थे, उन्हीं के नीचे बृहस्पति और रविवार को बाज़ार लगा करता। इस जवार का यह एक बड़ा बाज़ार था, इसलिए

दूर-दूर के गाँवों के लोग क्रय विक्रय के निमित्त यहाँ आया करते। इस बाज़ार के पास ही एक और छप्पर पड़ा था, जिसके नीचे पाठशाला लगाकर एक गुरु जी खूब जोर-जोर से कोलाहल करते हुए गाँव के अच्छे-बुरे हर तरह के बालकों को एकत्र किये विद्यादान के पुण्यतम कार्य का सम्पादन किया करते थे। यहाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर आधुनिक ढंग की भी दो-तीन प्रारम्भिक पाठशालायें मनोहरपुर में थीं।

बाज़ार के बिलकुल समीपवाली पाठशाला के ठीक सामने एक छोटा-सा पक्का मकान था। उसमें आद्याप्रसाद के दूर के रिश्ते के एक भाई रहा करते थे। पाठशाला छोड़कर आद्याप्रसाद अब उन्हीं के कन्धे का भार बना था। उसके इन भाई का नाम था वृन्दावन तिवारी और ये उसमें बड़े थे।

जहाँ के ये निवासी थे, वहाँ वृन्दावन ने अपने स्वभाव की सरलता के लिए अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। इसके सिवा उन्होंने एक प्रकार की और सुकीर्ति या अकीर्ति अर्जित की थी। उनकी वह कीर्ति इसलिए थी कि पत्नी के प्रति वे असाधारण भाव से आसक्त थे। उनकी दूसरे विवाह की स्त्री तुलसीदेवी का स्वभाव कुछ युग नहीं था, किन्तु गाँव में यह प्रसिद्धि अवश्य हो गई थी कि वार्द्धक्य की सीमा की ओर बढ़नेवाले पति के ऊपर इस युवती भार्या ने अत्यधिक प्रभाव जमा लिया है। यही कारण था कि स्वभाव से ही संकुचित हृदय रखनेवाले वृन्दावन से जब कभी किसी को कोई छोटा-मोटा काम लेना होता तो वह घर की किसी स्त्री को तुलसी के ही पास भेज देता। परन्तु तुलसी को इस बात का विश्वास था कि पति को वश में करने के लिए मैंने कभी किसी प्रकार के अस्त्र का उपयोग नहीं किया। वृन्दावन ने जब स्वेच्छा से उसकी वश्यता स्वीकार कर ली, तब वह करती ही क्या। इसके सिवा शक्ति के गर्व से अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करने का मनुष्य का जो स्वाभाविक धर्म है, तुलसी उससे परे तो थी नहीं!

आँगन के ठीक बीच में ईंट का एक थाला था। उसमें तुलसी का

एक पौधा लगा था। सारा आँगन गोबर से लीपकर दिव्य कर दिया गया था। साँझ प्रायः हो चली थी। तुलसी पीतल की एक थाली में दोना भर बताशा और जलते हुए घी का एक दीपक लिये हुए तुलसी के स्थान पर दीपदान करने आ रही थी। इतने में आद्याप्रसाद ने पुकारा—भाभी!

देवर के सम्बोधन का उत्तर देती हुई तुलसी ने मस्तक पर से खिसके हुए रेशमी साड़ी के अंश को यथास्थान करके मुँह फेरा और बोली—आओ न। पूजा के लिए स्थान ठीक कर दूँ ?

आद्याप्रसाद ने कहा—वह तो कर ही दोगी। मुझे तुमसे एक और बात कहनी थी। अच्छा रहने दो अभी, किमी और दिन कहूँगा।

तुलसी ने उत्सुक भाव से अपने दोनों ही कौतूहलपूर्ण नेत्रों को देवर के मुख पर स्थापित करके कहा—और समय क्यों ? इसी समय क्यों नहीं कह डालते। नहीं, यह नहीं होने का है। यह कौन-सी बात है भाई कि आधी बात कह गये और आधी मुँह में ही रक्खे रहे ?

तुलसी पूर्ण युवती थी। हास्य, कौतुक तथा सरसता से उसका समस्त हृदय वर्षाऋतु की नदी के समान लबालब भरा था। भीतर या बाहर का एक हलका-सा कम्पन पाकर भी जोर से तरङ्गित होकर वह छलछला उठता। देवर आद्याप्रसाद का पिंड उसने छोड़ा नहीं। खिड़की पर से एक आसन उठाकर उसने उसके लिए बिछा दिया और वह स्वयं समीप ही भूमि पर बैठ गई। तब उसने फिर आग्रहपूर्वक कहा—कहो, कौन-सी बात है ?

आद्याप्रसाद ने कहा—बात कोई वैसी नहीं है। भैया से तो कोई सत्परामर्श मिलने की आशा है नहीं। तुम्हारी बुद्धि पुरुषों से भी कहीं अधिक तीव्र है। इससे तुमसे कुछ परामर्श लेना है भाभी, तुम्हें मेरे लिए ज़रा-सा कष्ट करना होगा।

पति की अवस्था ढाई गुना अधिक होने पर भी तुलसी का उसके प्रति कम अनुराग नहीं था। इसलिए अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होने पर पति के प्रति देवर का अवज्ञा का भाव देखकर वह कम रुष्ट नहीं हुई।

किन्तु मन का भाव दबाकर मस्तक नीचा किये हुए उसने कहा—स्त्री की बुद्धि ही क्या है, परन्तु तुम अपना काम तो बतलाओ !

आद्याप्रसाद ने अपने मन का भाव प्रकट कर दिया । उसने कहा—शायद मानसिक अवस्था ठीक न होने के ही कारण गुरु जी ने मेरा न्याय-सङ्गत अधिकार दूसरे को दे दिया है । एक कल का छोकड़ा, जिसके दूध के दाँत अभी नहीं गिरे हैं, इतने दायित्वपूर्ण पद का अधिकारी बन बैठा ! वह क्या जाने शास्त्र का तत्त्व या पूजा-पद्धति । परन्तु अब घोर कलिकाल आगया है, इससे किसी की बुद्धि ठिकाने पर नहीं है । ज़र्मीदार साहब कुछ विचार नहीं करते । गुरु जी पागल अवस्था में जो कुछ निर्णय कर गये, उसी को उन्होंने भी आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया । परन्तु मुझसे तो इतना बड़ा अन्याय नहीं सहन किया जा सकता । मैं उस छोकड़े की सेवा करूँ ? यह कदापि सम्भव नहीं है !

“तो इस सम्बन्ध में तुम मुझे क्या करने को कहते हो ?”

आद्याप्रसाद उत्सुकतामयी दृष्टि से तुलसी की ही ओर ताक रहा था । परन्तु तुलसी ने उसे प्रोत्साहन देने योग्य कोई विशेष बात न कहकर जब बिलकुल सीधा-सा प्रश्न किया तब वह कुछ झुँझला उठा और कहने लगा—क्या करना चाहिए, यह यदि मैं स्थिर कर पाता तब तुम्हारे पास परामर्श के लिए क्यों आता ?

आद्याप्रसाद की झुँझलाहट के उत्तर में ज़रा-सा मुस्कराकर तुलसी ने कहा—मेरा परामर्श ! याद है न देवर, तुम्हीं एक दिन कह रहे थे न कि ‘स्त्रीबुद्धिः प्रलयङ्करी ?’

“ओह, उसके लिए तुम बुरा मान गई हो ? राम, राम ! वह तो एक हँसी की बात थी । अच्छा, ज़र्मीदार साहब के यहाँ की स्त्रियों से तुम्हारा परिचय है न ?”

नेत्रों के चञ्चलतापूर्ण तारों को प्रश्नकर्ता के मुख पर पूर्णरूप से स्थापित करके तुलसी ने कहा—क्यों ? है क्यों नहीं ? खूब है !

ज़रा कुछ संकोच के साथ आद्याप्रसाद ने कहा—सुना है, ज़मींदार साहब की लड़की बड़ी धर्मपरायणा है। उससे यदि इस सम्बन्ध में...।

तुलसी की उत्सुकता धृणा के रूप में परिणत हो गई। उसने कुछ तिरस्कारपूर्ण स्वर में कहा—क्या ? मैं देवनाथ की चुगली करूँ ? क्या दूसरे की निन्दा करना ही मेरा काम है ?

आद्याप्रसाद का मुख इतना-सा हो गया। ऐसे अवज्ञापूर्ण स्वर में यदि किसी पुरुष ने उसे कोई बात कही होती तो मुँह पर दो-एक थप्पड़ मारे बिना वह न रहता। परन्तु तुलसी-जैसी स्त्री तो क्रोध की पात्र थी नहीं, इससे अपने आपको सँभालकर उसने निम्न दृष्टि से कहा—मेरा यह मतलब नहीं है कि तुम जाकर देवनाथ की निन्दा करो। परन्तु यदि देवनाथ में सचमुच पुजारी बनने की योग्यता नहीं है, तो यह बात कहने से सत्य की ही रक्षा होगी। सत्य को प्रकट करने में कोई दोष नहीं है।

तुलसी के हृदय में जो विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ था, उसे दबाकर उसने कहा—इसमें दोष बहुत बड़ा है। उन्हें मालूम है कि तुम मेरे आत्मीय हो। इससे वे समझेंगी कि तुम्हारे कहने से मैं नये पुजारी की निन्दा कर रही हूँ। ऐसी दशा में मेरे कहने का कोई प्रभाव न पड़ेगा। परन्तु तुम विश्वास रखो कि देवनाथ यदि सचमुच पूजा करने के योग्य न होगा तो अधिक दिन तक वह ठहर न सकेगा। राधारानी उसकी त्रुटि निकाले बिना न रहेगी।

यह बात सुनते ही आद्याप्रसाद के नेत्रों में आशा की ज्योति जगमगा उठी। उसने कहा—तो ज़रा तुम एक बार इसका पता लगाना भाभी ! मेरी भाभी रानी तो ! यह काम यदि तुमने कर दिया तो मैं आजन्म तुम्हारा दास बनकर रहूँगा। तब तक मैं यहीं एक छोटी-सी पाठशाला खोलकर पढ़ाता रहूँगा। यदि और कुछ न होगा तो कम से कम उसकी पाठशाला को तो हानि पहुँचाऊँगा ही ! न जाने कहाँ से आगया वह पापात्मा मेरी इतने दिनों की आशा पर कुठाराघात करने के लिए !

तीसरा परिच्छेद

देवनाथ जिस मन्दिर में पूजा के निमित्त जाया करता, उसमें सुवर्ण के सिंहासन पर जो सोने की दो मूर्तियाँ स्थापित थीं, उनके अतिरिक्त एक और भी प्रतिमा वहाँ पर उसे प्रतिदिन प्रतिष्ठित दिखाई पड़ा करती थी। देव-विग्रह अचल रहा करते, किन्तु यह तीसरी देवी-मूर्ति सचल अर्थात् क्रियाशील रहती। इसमें केवल इतना ही उन दोनों मूर्तियों से अन्तर था।

स्नान तथा सन्ध्योपासन से निवृत्त होने के बाद गुरु का छोड़ा हुआ धौत वस्त्र तथा उत्तरीय धारण करके पहले-पहल देवनाथ जब पूजा के आसन पर बैठा तब उसके हृदय में एकाएक एक अपूर्व प्रकार का विस्मय इतनी अधिकता से उत्पन्न हुआ कि वह बिलकुल ही अभिभूत हो उठा। यह क्या मन्दिर है ? इस मन्दिर के देवता का यह कैसा ऐश्वर्य है !

संगमरमर से बना हुआ सुविशाल भवन था। चारों ओर की दीवारों के पत्थर काट-काटकर तथा उनके ऊपर खुदाई का काम करके उत्तम-उत्तम चित्र अङ्कित किये गये थे। इस प्रकार वह देवमन्दिर जन्म से लेकर अन्त तक की कृष्णलीला की विचित्र घटनाओं से परिपूर्ण था। ऊपर से बहुत-सी वस्तुओं से सुशोभित, चाँदी की शोभा को मात करनेवाले स्फटिक के झाड़ू भूल रहे थे। इन्द्र-धनुष की आलोक-रेखा रंगीन काँच के मध्य से होकर अमरलोक के समान ही उस गृह में विस्तृत होकर विभिन्न प्रकार के वर्णों का समावेश किये हुए थी। सुवर्ण का एक खटोला था। उसके ऊपर मखमल का बिछौना लगा था। जरी का काम की हुई उस पर मसहरी टंगी थी, जिसमें मोतियों की कालरें लगी थीं। सूर्य की किरणें उस पर पड़-पड़कर आँखों को

फुलसा देती थीं। पूजा की सामग्रियाँ सजा-सजाकर उस पर रक्खी हुई दगदगा रही थीं। यह सभी कुछ मनोरम था, चित्त को आकर्षित करनेवाला था।

सुवर्ण के पात्रों में कई प्रकार के नैवेद्य की सामग्रियाँ रक्खी हुई थीं। मोती से जड़े हुए सोने के पानदान में तरह-तरह की सुगन्धित वस्तुएँ डालकर खूब सावधानी से लगाया हुआ ताम्बूल था। सोने की एक बड़ी-सी थाली में फूल रक्खे हुए थे। सोने के ही धूपदान और दीपदान थे, जिनमें आवश्यक सामग्री सजी हुई थी। अगर की सुगन्धि से वायु वहाँ का सुरभित था। रूप-रम, वर्ण और गन्ध, इन सभी का वहाँ पर अपूर्व समावेश था। देवनाथ ने इस प्रकार का दृश्य कभी देखा तो था नहीं, इससे कुछ क्षण तक तो वह हक्का-बक्का होकर यह सब देखता ही रह गया। दूर्वादल, तुलसीदल, चन्दन और कुंकुम आदि सभी कुछ वहाँ थे।

सामग्रियों का संग्रह करने में कहीं लेशमात्र त्रुटि नहीं हो पाई थी। राजसिक पूजा का वहाँ बहुत ही सुन्दर आयोजन था और वह आयोजन था पूरे आडम्बर के साथ।

देवनाथ ने हृदय में ज़रा-सी व्यथा का अनुभव किया। वह सोचने लगा—यह क्या देव-मन्दिर है? इतना साज-सामान, इतने हीरा-मोती और मणि आदि तो कदाचित् विलासभवन में ही शोभा पाते हैं! बात यह है कि सोने-चाँदी की इस तरह की भरमार तथा रेशम और मखमल की इतनी अधिकता देवनाथ ने जीवन में और कभी तो देखी नहीं थी। परन्तु आज जो देवता के इस आश्चर्यजनक ऐश्वर्य का देवनाथ की दृष्टि के समक्ष आविर्भाव हुआ उसके कारण पहले वह चकित ही हुआ, मुग्ध नहीं हो सका। चकित भाव से ही उसने पूजा की और वेदना का एक विपुल भार हृदय में लिये हुए वह बाहर निकला। मन्दिर के द्वार पर आकर उसने एक हलकी-सी साँस ली, बाद को मन्दिर की ओर एक बार ताककर चिन्तित भाव से वह लौट आया।

देवनाथ सोच रहा था—हाय देवता, तुम्हारे द्वार के बाहर कितनी दीनता है, कितना हाहाकार है ! इधर तुम्हारे शरीर पर लाख रुपये से अधिक मूल्य के हीरा-मोती तथा अन्य प्रकार के रत्न चमचमा रहे हैं । देवता के नाम पर मनुष्य का यह कैसा हृदयविदारक परिहास है ! यह कैसा लज्जास्पद गुड़ियों का-सा खेल है ! यह तो देवता की आराधना नहीं है, यह देवता का अपमान है !

बाहर ही बाहर ज़रा-सा घूमकर देवनाथ पाठशाला-भवन के द्वार के सामने पहुँचा । दूर से ही उसने देखा कि विद्यार्थियों के साथ आद्या-प्रसाद देवी जी के मन्दिर के चबूतरे पर खड़ा उत्तेजित भाव से कुछ कह रहा है । इससे देवनाथ आगे नहीं बढ़ा । वह जानता था कि दुर्भाग्यवश इस युवक के साथ मेरा एक घोर प्रतिद्वन्द्वी का-सा सम्पर्क हो गया है । आद्याप्रसाद मुझसे बहुत चिढ़ा हुआ है और इस उत्तेजना-मय अवस्था में यदि मैं कहीं उसके सामने पड़ गया तो उसके हृदय के क्रोध की ज्वाला शान्त न होकर और भी प्रज्वलित होगी । इससे संकुचित होकर द्वार के सामने से वह हट आया ।

सूर्य की किरणों से उज्ज्वल धरित्री के अङ्क पर श्यामवर्ण की जो चूनरी सुशोभित थी, वह प्रभात के पवन से धीरे-धीरे कम्पित हो रही थी । विलासिनी नारी के अञ्चल की छोर में लगे हुए इत्र की सुगन्धि के समान ही विभिन्न प्रकार के पुष्पों का सम्मिलित सौरभ लिये हुए पवन चारों ओर उसे बिखरा रहा था । नदी के जल में सूर्य की छाया हीरे के कणों के समान लपलपाकर जल उठती और तरङ्गों के साथ नाचने लगती । उसी समय परान केवट जाल लपेटकर डोंगी के खोखले में भरकर लाई हुई मछलियों को निकाल-निकालकर अपनी पुरानी डलिया में सजा रहा था । उस डलिया में वह प्रतिदिन मछलियाँ सजाया करता, इस कारण डलिया जब खाली रहती तब भी उसमें से मछली की-सी ही गन्ध निकला करती ।

देवनाथ को देखते ही परान ने भूमि पर मुँह के बल लेटकर प्रणाम

किया। उसने कहा—दण्डवत् महाराज, सुना है कि अब तुम पुजारी महाराज बन गये हो। बड़ा अच्छा हुआ यह !

देवनाथ का परान केवट से केवल परिचय नहीं था; बल्कि उन दोनों में घनिष्ठता भी थी। नदी-तट पर उनकी प्रायः एक-दूसरे से मुलाकात हुआ करती थी। एक बार परान के घर में ज़ोरों की आग लगी थी और उसमें उसकी लड़की दुलारी जलने को ही थी, कि देवनाथ ने बड़े प्रयत्न से उसकी रक्षा कर ली। तब से उसके परिवार का जो कोई भी व्यक्ति इस उपकारी ब्राह्मण युवक को देखता, बहुत ही श्रद्धापूर्वक दण्डवत् प्रणाम किया करता।

कृतज्ञता के ब्याज के रूप में परान पहले कुछ दिनों तक दो-एक फल आदि उसे दे जाया करता। देवनाथ उसे ऐसा करने से रोकता और कभी-कभी थोड़ा-बहुत रोष भी प्रकट करने लगता, तब परान केवल हँसकर रह जाता और अपनी लाई हुई उपहार की सामग्री छोड़कर लौट खड़ा होता। बाहर आने पर वह कहता—मेरे महाराज जी तो बिलकुल देवता हैं। ऐसा आदमी तो मैंने पृथ्वी पर और देखा ही नहीं। परन्तु उन दोनों का यह आदान-प्रदान अधिक दिनों तक नहीं चल सका। देवनाथ से परान केवट जो इतना अधिक मिलता-जुलता था, उसकी ओर पाठशाला के विद्यार्थियों का ध्यान शीघ्र ही आकर्षित हो गया।

आचार-विरुद्ध कार्य आद्याप्रसाद को ज़रा भी सह्य नहीं था। एक दिन उसने उत्तेजित भाव से देवनाथ से पूछा—यह क्या बात है ? तुम मछुए का दान ग्रहण करते हो ?

इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की आपत्ति उठाई जा सकती है, इस बात की देवनाथ ने कभी आशा तक नहीं की थी। इससे ज़रा-सा चकित होकर उसने कहा—दान ? हाँ, दान ही सही। वह कभी-कभी कुछ दे जाता है अवश्य, रोकने पर मानता नहीं। देकर वह बहुत ही सुखी होता है।

ओठ दबाकर आद्याप्रसाद कुछ व्यङ्ग्य-सा कसता हुआ मुस्करा पड़ा। उस दल के और विद्यार्थियों की आकृति पर भी एक वैसी ही हँसी का भाव दिखाई पड़ा, जिसमें अविश्वास का चिह्न वर्तमान था। आद्याप्रसाद ने कहा—दरिद्र आदमी है वह, स्वयं पेट भर भोजन नहीं पाता; परन्तु फिर भी देने में उसे सुख मिलता है ! मान लो कि वह इस प्रकार सुखी ही होता है। परन्तु तुम कैसे एक नीच वृत्ति के द्वारा जीविका चलाने-वाले शूद्र का दान ग्रहण करते हो ? इस प्रकार तो तुम पतित ब्राह्मण हो जाओगे। विशेषतः अभी तक विद्यार्थी हो, तुम्हारा ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन करने का समय है। इधर तुम्हारा बनाया हुआ भोजन भी सब को करना पड़ता है।

देवनाथ कुछ लज्जित-सा हो उठा। भूमि की ओर दृष्टि मुकाकर कोमल स्वर से उसने कहा—यह ठीक दान नहीं है; बल्कि उपहार है।

आद्याप्रसाद अब ठहाका मारकर हँस पड़ा। वह बोला, खूब रही ! ब्राह्मण का लड़का मछुए से उपहार प्राप्त किया करता है। इसमें हानि क्या है ? यह कहकर 'हा-हा' करके वह फिर हँस पड़ा। इस अट्टहास में उसके साथियों ने भी योगदान किया। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी थे, जिन्हें किसी प्रकार की हँसी नहीं आ रही थी। परन्तु दल के नेता को सन्तुष्ट करने के विचार से उन लोगों ने भी कुछ 'हा-हा, ही-ही' का विकट शब्द करना ही उचित समझा। इधर देवनाथ का पक्षपाती कोई था नहीं, इससे मस्तक नीचे किये हुए वह चुप ही रह गया।

यह मामला यहीं तक नहीं रह गया। इस घटना के दूसरे दिन एक बहुत नरम कटहल लेकर परान दबे पाँव आकर उपस्थित हुआ। देवनाथ को दण्डवत् करके उसने कहा—ऋतु की यह नई चीज़ है, उस पार से ले आया हूँ महाराज ! साग बनाकर खाइएगा।

परान की यह विनम्रतापूर्ण प्रार्थना सुनकर देवनाथ बड़े धर्म-सङ्कट में पड़ गया। ज़रा देर तक चुपचाप सोचने के बाद उसने कुछ सङ्कुचित भाव से कहा—इसे यदि न लूँ तो क्या कोई हानि है परान ? बुरा न

मानना भाई ! तुम गरीब आदमी हो, रोज़-रोज़ तुम्हारी चीज़ में न ले सकूँगा । मेरे भाई, तो लौटाल ले जाओ इसे ।

सुब्ब-दृष्टि से परान ने ब्राह्मण देवता के मुँह की ओर ताका । बहुत ही दीनभाव से उसने कहा—यह भी कोई बात है महाराज ! तुम्हारी कसम है, तुम्हें दिये बिना भला इसे कभी मैं लौटाल कर ले जा सकता हूँ ? तुम्हारी दया से परान इतना गरीब नहीं है ! उसके हाथ-पैर यदि बने रहे, डोंगी और जाल न टूटी, तो उसके बाल-बच्चों को रोटी का क्लेश कभी न हो सकेगा । चुपचाप रख लो इसको, अपना पोथी-पत्रा उलटने को रहने दो । ख़ूब नरम कटहल है यह । ज़रा-सा गरम मसाला देकर बना लो, बड़ा स्वादिष्ट मालूम पड़ेगा ।

परान ने फिर एक बार दण्डवत् की और वहाँ से वह चल पड़ा । देवनाथ और कोई बात मुँह से निकाल न सका । मनुष्य के इतने बड़े दान के सुख में बाधा डालकर अपने आपको शुद्ध सतोगुणी बना रखना उसके लिए सम्भव नहीं था । मन ही मन उसने सोचा—इसमें यदि पाप होगा तो उस पाप का भागी मैं ही हूँगा, दूसरा कोई तो होगा नहीं । देवनाथ ने ख़ूब प्रेम से कटहल की भाजी बनाई । भोजन के समय अध्यापक महोदय तथा विद्यार्थियों के सामने उसने थोड़ी-थोड़ी करके रख दी । भाजी के रसे में थोड़ा-सा भात सानते-सानते प्रसन्नभाव से अध्यापक जी ने कहा कि आज तो बड़ी अच्छी भाजी बनाई है तुमने ।

आद्याप्रसाद एकाएक ज़ोर से चिल्ला उठा—खाइएगा नहीं, खाइएगा नहीं, यह अखाद्य है ।

सभी लोग विस्मित होकर आद्याप्रसाद की ओर ताकने लगे । गुरु जी ने कहा—तुम सभी विषयों में तिल का ताड़ किया करते हो आद्याप्रसाद ! इतनी बढ़िया भाजी बनी है यह, तुम कहते हो कि यह अखाद्य है ? यह तुम्हारी कौन-सी बात है ।

आद्याप्रसाद ने कड़कते हुए कहा—देवनाथ के मछुए मित्र का दिया हुआ उपहार है और वे उसे प्रसन्नतापूर्वक खा सकते हैं । परन्तु

हमारे आपके लिए तो यह नीचवृत्ति से जीविका चलानेवाले शूद्र का दान है, अतएव परित्याज्य है। आपके ये प्रिय विद्यार्थी सम्भव है ऐसा कोई भी कार्य करने में सङ्कुचित न हों जो कि वैष्णव ब्राह्मण के लिए उचित नहीं है। परन्तु उनके साथ सभी लोग पाप के भागी क्यों होने लगें ? जीवहिंसा के बल पर जीवन-निर्वाह करनेवाले शूद्र का दान ग्रहण करना और उसका भोग करना दोनों एक ही बात है। आप इस बात को तो मानते ही होंगे ? और कोई चाहे न भी माने, मैं तो इसे मानने के लिए अवश्य ही बाध्य हूँ।

अध्यापक के मुख पर तीव्र क्रोध का भाव लक्षित होने लगा। कर्कश स्वर में वे बोले—क्यों देवनाथ ? आद्याप्रसाद जो कुछ कह रहे हैं, क्या वह सच है ?

यह बात सुनते ही आद्याप्रसाद फिर जोर से चिल्ला उठा। उसने कहा—आद्याप्रसाद ने क्या कभी किसी से कोई झूठी बात कही है ? यदि कही हो तो कोई इसका प्रमाण दे ?

मस्तक नीचा किये हुए देवनाथ ने कहा—जी हाँ !

“अच्छा नहीं किया तुमने। देखना, फिर कभी ऐसा न होने पाये।”

“जो आज्ञा !”—यह कहकर दाल की बटलोई से कलछुल भर दाल देवनाथ भोजन करने के लिए बैठे हुए एक विद्यार्थी की कटोरी में डालने लगा। किन्तु शिखासहित मस्तक हिलाते हुए आद्याप्रसाद ने कहा—नहीं, नहीं, रहने दो, यह सब भोजन अशुद्ध हो गया। जो वस्तु स्पर्श तक करने के योग्य नहीं है, उसके साथ मैं बना हुआ भोजन गुरु को देने में तुम्हें यदि कोई आपत्ति नहीं मालूम पड़ती, तो न सही; किन्तु हम लोग तो जानबूझकर इस महापाप के भागी हो नहीं सकते। रसोई फिर से बनानी होगी। यह सब फेंक दो।

देवनाथ ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप रसोई-घर में चला गया। एक साधारण-सी बात को इस रूप में लेना अध्यापक महोदय को भी अच्छा नहीं मालूम पड़ रहा था; किन्तु वे कुछ बोल न

सके। आद्याप्रसाद से वे भी भीतर ही भीतर कुछ दबकर रहा करते थे। उन्होंने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि यह गली-गली इस बात का दिँदोरा पीटता फिरे कि गुरु जी ने आचार-विरुद्ध कार्य किया है, इससे भूख से तड़पते हुए वे क्रुद्ध भाव से चौके से उठ गये। हाथ-मुँह धो चुकने के बाद क्रोध के ही भाव से उन्होंने कहा—रहने दो, अब आज कुछ खाने की आवश्यकता नहीं है। अपने सोने के कमरे में जाकर उन्होंने द्वार बन्द कर लिया और बिस्तरे पर पड़ रहे।

विद्यार्थियों में से किसी का भी भोजन नहीं हुआ। आद्याप्रसाद का सभी पर आतङ्क था। देवनाथ इससे बहुत ही लजित हुआ, साथ ही क्षोभ भी उसे कम नहीं हुआ। यथामग्न शीघ्र ही चौका-बर्तन साफ़ करके उसने फिर भोजन बनाना आरम्भ कर दिया। इधर उसके विषादपूर्ण मुख की ओर एक बार ताककर बड़े दम्भ के साथ आद्या-प्रसाद ने कहा—मुझसे चले हैं टक्कर लेने के लिए। उड़ा न दूँगा एक ही फूँक में !

देवनाथ परान केवट का दिया हुआ उपहार ग्रहण करने का साहस फिर नहीं कर सका। इसके लिए उसे वास्तविक स्थिति स्पष्टरूप से समझा देनी पड़ी थी। परान मूर्ख तो था ही। सुनकर वह बहुत क्रुद्ध हुआ। वह कहने लगा—शूद्र के परिश्रम के ही बल पर ब्राह्मणों का निर्वाह होता है महाराज ! यह चावल, जो रोज़ बना-बनाकर खाते हैं आप लोग, कौन-से गुरु महाराज की पाठशाला में होता है ? शूद्र ही तो हल चलाकर उसे पैदा करता है। आवेश में आकर वह और न जाने क्या-क्या कह गया। परन्तु देवनाथ ने समझा-बुझाकर उसे किसी प्रकार शान्त किया।

आज परान ने जब बहुत ही प्रसन्न भाव से देवनाथ का अभिनन्दन किया तब एकाएक उसके नेत्र ज़रा-सा भर आये। वह सोचने लगा—यह मूर्ख मल्लुआ ही तो ठहरा, इसे क्या पता है कि जिस पद पर आज मैं बैठा दिया गया हूँ, उसके लिए कहाँ तक उपयुक्त हूँ। जिस घटना

से आज सारे मनोहरपुर में खलबली मची हुई है उसे यह इतने शान्त भाव से ग्रहण कर सकता है। परन्तु ऐसा यदि न होता यह, तो मछुए के घर में जन्म ही क्यों होता इसका ? यह सोचते-सोचते देवनाथ के ओठ के कोने में एक रुखी-सी हँसी उदित हो आई। परन्तु इस विचार-धारा को परिवर्तित करके उसने पूछा—क्यों रे परान, तेरे बाल-बच्चे तो सब अच्छे हैं न ? दुलारी कैसी है ?

एक गाल हँसकर परान ने कहा—अच्छे हैं, महाराज ! आपके चरणन की दया से बीती जा रही है। थोड़े-से आँवले और टमाटर रख छोड़े हैं महाराज, साँझ तक दे जाऊँगा। अब तो आप गुरु महाराज हो गये हो। अब तो कोई रोब दिखायेगा नहीं !

यह बात सुनते ही देवनाथ का हृदय धक् से हो उठा। वह ज़रा कुछ दुःखीभाव से कहने लगा—नहीं भाई परान, एक दिन गुरु के सामने जो प्रतिज्ञा की है, उसको भंग नहीं कर सकता। तुम बुरा न मानना भाई !

कुछ दुःखीभाव से परान ने कहा—बुरा क्यों मानूँगा महाराज ! हम तो मूर्ख आदमी ठहरे। जिस काम से तुम्हारे धर्म में दाग लग सकता है, वह तुम मेरे लिए क्यों करने लगे !

डोंगी के खोखले से मछलियाँ निकालते-निकालते अपनी आकृति पर उदित हो आई वेदना की रेखा को देवनाथ से छिपाने के विचार से उसने कहा—आज तो मछलियाँ बहुत कम मिली हैं महाराज ! जान पड़ता है मजदूरी भी न निकल पायेगी।

देवनाथ वहाँ से चल पड़ा। इधर नदी के तट पर कोई मकान नहीं था। जहाँ तक दृष्टि जाती, मखमल के समान हरी-हरी तट-भूमि पर लहलहाती हुई खेती दूर तक फैली हुई थी। खेतों के किनारे-किनारे कहीं-कहीं बड़े-बड़े घने वृक्ष थे। कहीं-कहीं प्रकृति ने लता और गुल्म के सुन्दर-सुन्दर कुञ्ज बना रखे थे। उस दूर तक फैले हुए मैदान की सीमा पर किसानों का एक छोटा-सा गाँव था। उसमें बने हुए छोटे-छोटे

कुटीर निर्मल धूप में स्नान करते हुए बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ रहे थे । एक स्थान पर बरगद का एक बहुत पुराना वृक्ष जटा खोलकर चारों ओर लटकाये हुए तपस्या-निरत योगी के समान अनन्त की ओर दृष्टि लगाये खड़ा था । विभिन्न प्रकार के पक्षी उसकी डाली-डाली पर निवास किया करते थे । उन पक्षियों का आनन्द-कलरव देखकर ऐसा जान पड़ता कि मानो यह एक बहुत सुखी परिवार है और इसमें निवास करनेवाले प्राणियों में परस्पर एक-दूसरे के प्रति किसी प्रकार का द्वेष-भाव नहीं है ।

देवनाथ टहलते-टहलते उसी वट-वृक्ष के पास जाकर खड़ा हुआ । चारों ओर ताककर उसने एक आह भरी । मन्दिर का दृश्य उसे भूलता ही नहीं था । उसके व्याकुल हृदय में बार-बार यही प्रश्न उदय होता कि देवता के नाम पर ऐश्वर्य्य का इस प्रकार का प्रदर्शन क्यों किया जाता है ? देवता क्या इससे प्रसन्न हुआ करते हैं ?

मन्दिर में इन्द्रपुरी की-सी जो शोभा देवनाथ देख आया था उसके साथ ही साथ बस्ती में बने हुए भूख की ज्वाला से तड़पनेवाले किसानों के भोपड़ों का दृश्य उसके हृदयरूपी दर्पण पर उदित हो आया और वह दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने लगा । कहाँ वह राजा का-सा ऐश्वर्य्य और कहाँ यह दरिद्रता का उत्पीड़न ! राज्ञसी का रूप धारण किये हुए दरिद्रता यहाँ कितनी मानव-सन्तानों के वक्ष का शोणित चूस-चूस-कर पान कर रही है ! तो क्या यहाँ देवता नहीं हैं ? हा नाथ ! क्या तुम मन्दिर के ही ईश्वर हो ? विश्व के ईश्वर नहीं हो ?

दिन बराबर चढ़ता जा रहा था । पेड़ की पत्तियों में कहीं-कहीं जो साँसे थीं, उनके बीच-बीच से शरद् ऋतु के प्रथम दिवस के प्रभात की धूप चन्द्रकान्तमणि के समान चमचमाने लगी । किसान लोग चर्बण आदि चबा-चबाकर जल पीने के लिए नदी के घाट पर आये । उनमें से किसी ने साष्टाङ्ग होकर, किसी ने भूमि पर केवल मस्तक रखकर कहा— 'प्रणाम करता हूँ पुजारी जी, महाराज !'—इतना कहकर वे सब वहाँ से हट गये । केवल एक आदमी ज़रा कुछ समीप आकर कहने लगा— तुम

पुजारी की जगह पा गये हो, इससे आद्या महाराज बहुत नाराज़ हैं। वे कहते हैं कि देखता हूँ, कितने दिनों तक यह मेरे हक का धन खाता रहता है। इसको मैं अपमानित करके निकलवाये बिना यदि रह गया तो मेरा नाम आद्याप्रसाद नहीं। अन्त में वह कहने लगा—इन सब बातों से हमारा क्या मतलब है महाराज ! अदरख का व्यापारी जहाज़ की ख़बर लेकर क्या करेगा ? परन्तु बात कान में पड़ गई थी, इससे तुम्हें बतला दिया। ज़रा सोच-समझकर रहना महाराज ! आदमी वह बड़ा उपद्रवी है ! सब कुछ सम्भव है उसके लिए।

यह बात सुनकर देवनाथ ने ज़रा-सी विषाद की हँसी हँस दी। आद्याप्रसाद के मन में जो ईर्ष्या का भाव है, इसके कारण क्रोध में आकर दो-चार चिनगारियाँ इधर-उधर वह फेंक सकता है, यह बात देवनाथ को पहले से ही मालूम थी। इसमें विस्मित होने की कोई बात उसके लिए नहीं थी। परन्तु वह जो ऐरों-गैरों के सामने इस प्रकार का धुआँ उगल-उगलकर अपने को गिरा रहा था, इसके कारण वह मन ही मन उसकी ओर से कुछ लज्जित-सा अनुभव करने लगा।

चौथा परिच्छेद

भगवान् रामचन्द्र के यज्ञ में जिन पाँच ब्राह्मणों की पूजा हुई थी, मनोहरपुर का ज़मींदार-परिवार उन्हीं की एक शाखा है। प्रतापगढ़ में चन्द्रवंश का राज्य स्थापित हो जाने के बाद वहाँ के महाराज से मनोहरपुर तथा आम-पास के दो-एक और गाँव उन लोगों को जागीर के रूप में मिले थे, तभी से ये लोग इस पर अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। इस परिवार की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वैष्णव धर्म के ये लोग बहुत पक्के अनुयायी थे और रामानुज-सम्प्रदायवालों के एक बहुत बड़े गढ़ अयोध्या के समीप निवास करने पर भी सीताराम के उपासक न होकर वे राधाकृष्ण के उपासक थे।

आचार-विचार के विषय में इस कुल के लोग इतने पक्के थे कि छोटे-छोटे बच्चे तक निर्दिष्ट नियमों का पालन करने में कभी अणुमात्र भी असावधानी नहीं किया करते थे। इस प्रकार दान-धर्म, कुल-मर्यादा तथा सदाचार आदि सभी दृष्टियों से मनोहरपुर का ज़मींदार-परिवार समाज के शीर्षस्थान पर अपना आमन जमाये हुए था।

वर्तमान ज़मींदार के पिता पण्डित गोकुलनाथ जी इस वंश में सबसे अधिक भक्तिमान पुरुष थे। सई के तट पर यह जो सुविशाल मन्दिर बना था; वह उन्हीं गोकुलनाथ जी की कीर्ति का द्योतक था। उन्होंने ही एक दानपत्र लिखकर अपनी इतनी बड़ी सम्पत्ति को देवता के लिए उत्सर्ग कर दिया था। परन्तु इस इतने बड़े त्याग में आध्यात्मिकता की जितनी मात्रा थी, आधिभौतिक प्रेरणा उसमें कम मात्रा में नहीं वर्तमान थी। बात यह है कि गोकुलनाथ जी जीवन का बहुत बड़ा भाग व्यतीत कर देने पर भी जब पौत्र का मुख देखने से निराश हो गये तब उन्होंने यह मन्दिर बनवाने तथा अपनी सम्पत्ति परमार्थ में उत्सर्ग करने

की ओर ध्यान दिया। इतने में उनकी पुत्रवधू ललिता देवी ने फूल की कली जैसी एक कन्या को जन्म दिया। इस सन्तानहीन घर में उस कन्या के भी लाड़-चाव की सीमा न रही। सूतिकागार के द्वार पर जाकर गोकुलनाथ जी ने वस्त्र से लपेटा हुआ बालिका को धात्री के हाथ से ले लिया और आनन्द के आँसू बहाते हुए गद्गद स्वर में बोले—राधारानी, इतने दिनों के बाद तू अपने इस अधम साधक को प्रत्यक्ष दर्शन देने के लिए आई है, मा !

आड़ में बैठी हुई कन्या की माता अभी नेत्रों के जल से अपने शरीर को भिंगे रही थी। श्रीकृष्ण ने उनकी कातर प्रार्थना की ओर इतने दिनों के बाद कान लगाया था। इस सन्तान के ही लिए उनके हृदय ने आज तक कितना हाहाकार किया था, इसका अनुभव करनेवाला और कौन था ? ललिता के दुःखी होने का एक यह भी कारण था कि उनके पति कुलीन और समृद्धिशाली होकर इस बन्ध्या पत्नी को ही पूर्ण-रूप से हृदय से लगाये रहे। आत्मीय-स्वजनों ने उनसे कितना अनुरोध किया; पिता भी रुष्ट हुए; किन्तु वे नवीन सौभाग्यवती वधू घर में लाने पर नहीं तैयार हुए। परन्तु ललिता भी पति के इस आन्तरिक प्रेम से सुखी नहीं हो पाई। कारण वे तो पतिपरायणा महिला थीं। वे भला पति के हानि-लाभ के सामने अपने हानि-लाभ की ओर ध्यान देना कैसे उचित समझ सकती थीं ? इसी लिए उन्होंने वंश-रक्षा के निमित्त फिर से विवाह कर लेने के लिए स्वयं भी पति से कई बार अनुरोध किया; किन्तु उन्हें वे सहमत न कर सकीं। इसलिए सुख की अधिकता के कारण अतीत काल का सारा दुःख वेग से उमड़ आया। माता ने इस कन्या-सन्तान को स्नेहपूर्वक छाती से लगाया और उसका मुँह चूम लिया।

अन्नप्राशन के दिन कन्या का नाम रक्खा गया—‘प्रभा’। परन्तु उसका वह नाम केवल शोभा के लिए विशेष अवसरों पर उपयोग में ले आने के ही लिए सुरक्षित रहा, सर्व-साधारण में पितामह का रक्खा हुआ

उसका नाम राधारानी ही प्रसिद्ध हुआ। कन्या के पिता आधुनिक ढंग से शिक्षित थे और प्रभा जैसे कवित्वमय नाम के सामने युगयुगान्तर से चला आया हुआ नाम 'राधारानी' उन्हें फीका मालूम पड़ता था; किन्तु उसका यह नाम इतना प्रचलित हो गया कि उन्हें भी इस 'प्रभा' नाम को हीरा-मोती के ही समान सुरक्षित करके रख देना पड़ा।

पण्डित गोकुलनाथ जी रात-दिन श्रीकृष्ण की भक्ति में ही लीन रहा करते थे। उनके नाट्यमन्दिर में समय-समय पर कृष्णलीला-सम्बन्धी तरह-तरह के उत्सव हुआ करते। साँझ को प्रतिदिन भजन और हरि-कीर्तन होता। वहाँ बैठे-बैठे वे प्रेम में विह्वल हो जाते। अत्यन्त प्रातःकाल शय्या का परित्याग करके नित्यक्रिया में वे लग जाते और पूजा-पाठ तथा जप आदि से निवृत्त होने के बाद जल-ग्रहण करते। मध्याह्नकाल में समय-समय पर पण्डितों का समागम होता रहता और वे अपने कमरे में, जिसमें कि खूब साफ़-सुथरा जाजिम बिछा होता; कम्बल पर बैठकर शास्त्रार्थ सुना करते। परन्तु वैष्णव-धर्म के विरुद्ध तिल भर भी उन्हें कोई हिला नहीं सकता था। सबसे अधिक रोष होता था उन्हें वेदान्तियों की बातों के कारण। बात यह है कि आत्मा और परमात्मा में वेदान्ती लोग कोई भिन्नता नहीं स्वीकार करते। इससे गोकुलनाथ जी का विश्वास था कि वेदान्त शास्त्र के प्रति श्रद्धा प्रकट करने का अर्थ है ईश्वर की अवज्ञा करना, जीव और ब्रह्म में एकत्व का आरोपण करने से पापभागी होना पड़ता है। इसलिए वेदान्तियों से वे प्रायः बातें नहीं किया करते थे। वे कहते कि वेदान्ती लोग वास्तव में नास्तिक होते हैं। किन्तु धार्मिक बनने का ये लोग दावा करते हैं, इससे ये और भी भयङ्कर हैं, अतएव इनका सङ्ग विषवत् परित्याज्य है।

निरन्तर एक न एक काम में लगे रहनेवाले गोकुलनाथ जी के हृदय में जितना भी स्थान था वह सब अब इस पौत्री राधारानी ने अपने अधिकार में कर लिया। उसके कारण इनका इतने दिनों का बँधा हुआ कार्यक्रम बहुत कुछ भङ्ग हो गया। राधारानी एक वर्ष की हुई नहीं

कि गोकुलनाथ जी के भजन-पूजन के समय में क्रमशः कमी होने लगी और वे उनके समय का बहुत-सा अंश पौत्री के साथ खेलने में व्यतीत करने लगे। वे जयमाली में हाथ डाले हुए ध्यानमग्न रहते, इतने में राधारानी मचलती हुई पुकार उठती—बाबा ! गोकुलनाथ जी मन में इससे कुछ उद्वेग का अनुभव अवश्य करते; किन्तु उसे वे किसी प्रकार भी प्रकट न होने देते और स्नेहपूर्वक उठाकर उसे गोद में बैठाल लेते।

धीरे-धीरे राधारानी नौ वर्ष की पूरी हुई। अब उसे किसी सुपात्र को दान करके गोकुलनाथ अक्षय स्वर्ग की कामना से वर की खोज में स्थान-स्थान पर आदमी भेजने लगे। परन्तु उनके पुत्र द्वारकानाथ के विचार बहुत-कुछ नवीन ढंग के थे और वे इतनी थोड़ी अवस्था में पुत्री का भाग्य किसी युवक के साथ जोड़ देने के लिए नहीं तैयार थे। इस कारण पिता-पुत्र में कुछ मनोमालिन्य तक होने का अवसर आ गया।

गोकुलनाथ जी की रिश्तेदारी में मदनमोहन नामक एक युवक था। पहले-पहल उन्होंने उसी के साथ राधारानी का विवाह करने का प्रस्ताव किया। परन्तु द्वारकानाथ ने उसके सम्बन्ध में आपत्ति प्रकट की। उन्होंने कहा—इसी अवस्था में उसमें कुछ ऐसे दुर्व्यसन आ गये हैं, जिनके कारण उसका भविष्य अच्छा नहीं जान पड़ता। पिता ने उनकी यह आपत्ति स्वीकार कर ली। परन्तु उसके बाद ही उन्हें एक और परम कुलीन वर का पता चला और उन्होंने द्वारकानाथ को बुलाकर कहा कि यह बहुत ही उत्तम सम्बन्ध है, अतएव शीघ्र ही यह शुभकार्य सम्पन्न हो जाना चाहिए। परन्तु इस बार द्वारकानाथ ने स्पष्ट कह दिया कि इतनी ही थोड़ी अवस्था में प्रभा को मैं एक ऐसे व्यक्ति के गले में बाँधने के लिए तैयार नहीं हूँ जिसने एक और बालिका का पाणिग्रहण कर लिया है। इससे हमारी प्रभा का जीवन संकटमय हो सकता है। हमारे रूपों में इतनी शक्ति अवश्य है कि वे उसे प्रभा की ही ओर सदा आकर्षित कर रखें; किन्तु ऐसा करने पर एक दूसरी बालिका का जीवन

तो संकटमय हो सकता है। ऐसी दशा में मैं प्रभा का विवाह अविवाहित वर के ही साथ करूँगा, अन्यथा वह यदि आजन्म कुमारी रह जाय तब भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है।

द्वारकानाथ की इस बात से गोकुलनाथ बहुत ही दुःखी हो उठे। उनके मन में यह बात आई कि प्रभा के प्रति हृदय में जितना भी ममता का भाव है, उसे दूर करके उदासीनभाव से ही रहना आरम्भ कर दें। परन्तु सूरसागर या सुशुकोक्ति सुधासागर लेकर जब वह उनके पास पहुँची और उसके सम्बन्ध में उनसे प्रश्न करने लगी तब उनकी गम्भीरता भङ्ग हुए बिना नहीं रह सकी। उन्होंने सोचा—चलो अच्छा ही है, सम्भव है कि उसका पिता कोई उत्तम वर खोजकर उसके साथ राधारानी का विवाह कर दे।

धीरे-धीरे प्रभा की अवस्था तेरहवें वर्ष को भी पार कर गई; किन्तु नवें वर्ष में उसके विवाह की चर्चा जब बन्द हुई तब से आज तक उस विषय को किसी ने मुँह पर नहीं आने दिया। गोकुलनाथ भी अपने निश्चय पर अटल रहनेवाले आदमी थे। जो अधिकार पुत्र के द्वारा उनके हाथ से एक बार छीना जा चुका था, उसे फिर से प्राप्त करने की इच्छा वे किसी प्रकार भी नहीं प्रकट कर सकते थे। इससे मन की वेदना वे मन ही में छिपाये रह गये, पुत्र या पुत्र-वधू को उन्होंने कभी उसका आभास तक नहीं होने दिया। उनकी आकृति से सदा एक विचित्र प्रकार की उदासीनता ही उन लोगों के समक्ष प्रकट हुआ करती थी।

प्रभा के तेरहवें वर्ष में पैर रखने पर पत्नी के आग्रह से एक दिन एकाएक द्वारकानाथ के मन में थोड़ी-सी चिन्ता उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि कन्या का विवाह कर ही देना होगा। परन्तु वर खोजना उन्होंने जितना आसान समझ रक्खा था, समय आने पर उतना ही वह कठिन हो गया। अपनी रुचि का वर वे कहीं भी न खोज पाये। कुल-मर्यादा से ज़रा-सा नीचे उतरकर यदि वे विवाह करना पसन्द करते तो अच्छा वर मिल जाने में उतनी कठिनाई न पड़ती। परन्तु द्वारकानाथ ने पिता से

हृदरूप से यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि कन्या के विवाह में वे कुल के गौरव का ज़रा-सा ह्रास न होने देंगे। इधर समान कुल में कोई योग्य वर नहीं मिल रहा था। इस कारण वे चिन्तित हो उठे। गोकुलनाथ यह देखकर मन ही मन आमोद का अनुभव करते और सोचते कि समय पर बाबू साहब ने बात मानी नहीं, अब उसी का फल भोग रहे हैं। परन्तु यह बात वे अस्वीकार नहीं कर सकते थे कि राधारानी जो विवाहित होकर दूसरी जगह नहीं गई, इससे उनके मन को कुछ सन्तोष न मिलता रहा हो।

इससे कुछ ही दिनों के बाद कई दिनों तक रोगशय्या पर पड़े रहने के बाद राधारानी के पितामह एक दिन एकाएक किसी अज्ञात लोक की ओर चल पड़े। उनके मृत्युशय्या ग्रहण कर लेने के बाद जो 'विल' तैयार हुआ उसमें राधारानी के सम्बन्ध में इस प्रकार की व्यवस्था की गई कि यदि पन्द्रहवें वर्ष तक उसका विवाह हमारी कुल-मर्यादा के अनुकूल किसी उत्तम कुल में किया जा सका तभी वह तथा उसके उत्तराधिकारी देवता की सेवा-पूजा से बचे हुए हमारी सम्पत्ति की आय के धन का उपयोग करने के अधिकारी होंगे। किन्तु यदि ऐसा न हुआ, अर्थात् किसी निम्न कुल में उसका विवाह हुआ या निर्दिष्ट अवधि तक विवाह ही न हुआ तो राधारानी जिस दिन सोलहवें वर्ष में पदार्पण करेगी उस दिन के प्रातःकाल से मेरी सारी सम्पत्ति का अधिकारी मेरा दूर का रिश्तेदार होने पर भी मदनमोहन ही होगा। द्वारकानाथ को आजन्म सहस्र मुद्रा मासिक मिलता रहेगा, पिता-पितामह के इस घर पर उस दिन से उनका कोई अधिकार न होगा।

द्वारकानाथ दुःखीभाव से कन्या के मुँह की ओर ताककर रह गये। तो क्या इस मक्खन की गुड़िया जैसी सोने की प्रतिमा को केवल कुलीनता की ओर ध्यान देकर किसी अयोग्य व्यक्ति के हाथों में सौंप देना पड़ेगा? प्राणों से भी अधिक प्यार करके भी पितामह पौत्री के भविष्य को इतनी कठोर शर्तों से बाँध देने में कैसे समर्थ हो सके हैं? स्नेह में क्या इतनी शक्ति नहीं है कि वह स्नेहपात्र

केवल सुख-दुःख को प्रधानता देकर और सब छोटी-मोटी सांसारिक वस्तुओं को तुच्छ कर दे ? ललितादेवी ये सारी बातें सुनकर कुछ विशेष दुःखी नहीं हुईं । वे कहने लगीं कि बाबू जी ने कोई अनुचित शर्त नहीं लगाई है । पन्द्रह वर्ष में भी यदि किसी प्रतिष्ठित घराने की कन्या का विवाह न हो सका तो लोक-निन्दा हुए बिना नहीं रह सकती, इसलिए इस बीच में तो प्रभा का विवाह कर ही देना पड़ेगा ।

थोड़ी-सी झुंझलाहट के साथ द्वारकानाथ ने कहा—ठीक है, तुमने कह दिया और हो गया । किन्तु मान लो कि यदि इस अवधि के भीतर कोई योग्य वर न मिल सका तो अन्त में चलकर क्या उस चरित्रहीन मदनमोहन के ही हाथों में अपनी प्यारी प्रभा को सौंप देना पड़ेगा ? पिता जी को मदनमोहन से न जाने क्यों इतना 'मोह' था कि अन्तिम अवलम्बन वे उसी को बना गये हैं ! परन्तु गृहिणी ने पति को आश्वासन देते हुए कहा कि दो वर्ष के भीतर हमारी राधारानी के लिए अवश्य योग्य वर मिल जायगा । उसका अमङ्गल कभी नहीं हो सकता, यह आप विश्वास रखिए ।

दो वर्ष बीत गये । परन्तु माता-पिता के असाध्य साधना करने पर भी सात सौ तीस दिन में कोई ऐसा वर नहीं मिल सका जो प्रभा के लिए उपयुक्त हो । अन्त में आर्थिक अवस्था तथा विश्वविद्यालय की डिग्रियों आदि के मोह का परित्याग करके केवल कुलीनता तथा प्राचीन आदर्शों पर ध्यान रखते हुए उन्हें एक दरिद्र कुल के अशिक्षित बालक पर ही दृष्टि डालनी पड़ी । परन्तु मन उनका किसी प्रकार भी विद्रोह का परित्याग करने पर सहमत न होता । वह रह-रहकर बोल उठता—यह इतनी सुन्दर मोतियों की माला भला बन्दर के गले में कैसे डाल दी जाय ? शास्त्रकारों ने भी तो यही आदेश किया है कि कन्या विद्वान् वर को देनी चाहिए । परन्तु एकाएक एक दिन अनन्त धाम की यात्रा करके उस निर्धन कुल के बालक ने द्वारकानाथ के मन के इस विद्रोह का स्वयं अन्त कर दिया ।

दबाकर उन्होंने कुछ तिरस्कार के स्वर में कहा—तुम लोग इसी तरह की बातें करती रहती हो ? हमारी प्रभा का चेहरा कहाँ उतरा हुआ है ? नये पुजारी कैसे हैं, रे प्रभा ?

मुँह फुलाकर ज़रा-सा तैश के साथ प्रभा ने कहा—पुजारी नहीं पत्थर है, वह !—इतना कहकर वह पासवाले कमरे में चली गई । जाते-जाते वह बोली—इतना छोटा-सा लड़का भला पुजारी का काम क्या करेगा ?

आश्चर्य प्रकट करती हुई ललितादेवी कहने लगीं—ओह मा ! ऐसी बात है ? क्या बहुत थोड़ी अवस्था का है वह ? तुम्हारे अनुमान से कितनी होगी अवस्था उसकी ?

प्रभा ने कुछ मुँह मलाकर कहा—मैं क्या उसकी जन्म-पत्री देखने गई थी, जो बता सकूँ कि उसकी अवस्था क्या होगी ? परन्तु बहुत होगा तो वह बीस वर्ष से अधिक का न होगा । इसके बाद ललितादेवी ने कुछ नहीं कहा । वे ज़रा-सा चकितभाव से पुत्री की ओर ताककर रह गईं ।

साँझ को आरती का समय आया । सुवर्ण के एक बड़े-से दीपदान में कई बत्तियाँ एक साथ जल गईं । उनकी शुभ्र ज्योति सुवर्ण के पीले-पन के साथ मिलकर संगमरमर के स्वच्छ फ़र्श पर पड़-पड़कर उसे सूती के टुकड़े के समान देदीप्यमान कर रही थी । देवता के शृङ्गार के लिए जिन बहुमूल्य रत्नों का उपयोग किया गया था, वे प्रकाश से टकराकर जगमगाते हुए नक्षत्र-मण्डल की-सी उज्ज्वल प्रभा विकीर्ण कर रहे थे । शङ्ख, घड़ियाल तथा साँझ, करताल और मृदङ्ग आदि की ध्वनि 'रावे-श्याम, जय रावेश्याम' की आवाज़ को ढँककर आकाशमण्डल में गूँजने लगी । प्रभा सदा की भाँति देवता के समीप निश्चलभाव से बैठी हुई अपने कोमल हाथ से सुवर्ण का चमर डुला रही थी । कभी बाँईं ओर और कभी दाहिनी ओर को घूमते हुए उसके हाथ की ओर मुहूर्त भर दृष्टि लगाये रहने के बाद देवनाथ ने हाथ में पञ्चप्रदीप लिया और वह आरती करने लगा । परन्तु उसकी दृष्टि में एक प्रकार का विस्मय का भाव था । इतने अधिक प्रकाश में भी प्रभा के हाथ की ओर ताक-

कर देवनाथ ने यही अनुभव किया था कि शायद संगमरमर से यह कोई नकली हाथ बना दिया गया है ?

आरती के समय भी देवनाथ के कार्य से प्रभा के चित्त को वैसा सन्तोष नहीं हो सका। उसने निश्चय कर लिया कि इस तरह के अपद आदमी के द्वारा सेवा-पूजा केसे महत्व के कार्य का सञ्चालन किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसलिए आरती समाप्त होने पर घर में जाकर उसने पिता से कहा—नये पुजारी को कब निकालोगे, बाबू जी ?

द्वारकानाथ पत्नी से पहले सुन चुके थे कि प्रभा पुजारी के कार्य में सन्तुष्ट नहीं हो सकी है। उन्होंने स्वयं भी यह अनुभव किया था कि देवनाथ की अवस्था अभी इस योग्य नहीं है कि वह पुजारी के पद पर बैठाया जा सके। और पूर्व-निर्दिष्ट व्यवस्था के ही कारण वे उसे इच्छा के विरुद्ध भी उक्त पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए बाध्य हुए थे। परन्तु मन का यह भाव दवाकर उन्होंने इधर-उधर की बातों से ही पुत्री को शान्त करना चाहा।

प्रभा कोई ऐसी-वैसी लड़की तो थी नहीं जो बातों में आ जाती। द्वारकानाथ जैसे-जैसे पुजारी को वकालत करते जाते वैसे ही वैसे उसका विरक्ति का भाव भी बढ़ता जाता। अन्त में आवेश के कारण उसके लाल-लाल और पतले-पतले ओठ काँपने लगे। पुत्री को इस प्रकार अधीर होते देखकर द्वारकानाथ ने मन ही मन अपार वेदना का अनुभव किया। देवनाथ से उन्हें कोई वैसी महानुभूति नहीं थी कि उसके लिए वे अपने सारे सुखों की एक-मात्र आधार प्रभा के मन को किसी प्रकार की व्यथा पहुँचा सकें; किन्तु पिता के द्वारा की गई व्यवस्था के कारण वे देवनाथ को पदच्युत करने में भी समर्थ नहीं थे। इससे बाध्य होकर उन्हें प्रभा को सारी स्थिति समझानी पड़ी। उन्होंने कहा—अभी उसने एक नया कार्य आरम्भ किया है, इससे वह ठीक-ठीक कर नहीं पाता। तुम्हें चाहिए कि तुम उसे सिखा लो। तुम तो बहुत विज्ञ हो बेटी, इतनी छोटी अवस्था में भी तुमने बहुत-

सी बुद्धियों से भी अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है। तुम्हारी जैसी बुद्धिमती को तो इस तरह अधीर होना नहीं शोभा देता, बेटी !

पिता के इन स्नेहमय तथा प्रशंसापूर्ण वाक्यों से प्रभा के मुख-मण्डल पर लालिमा दौड़ गई। उसने सलज्जभाव से कहा—बाबू जी भी खूब कहते हैं ! मैं सब जानती हूँ न, जो उसे सिखा दूँगी ?

इतना कहकर प्रभा उठकर चली गई। परन्तु इस शिक्षक के पद से मन ही मन उसने अपने आपको गौरवान्वित अनुभव किया। यह बात पिता के समक्ष प्रकट हो गई, उसकी एक हलकी-सी मुस्कराहट के कारण, जो उसके अधर-प्रान्त पर खिल आई थी। प्रभा की वह मुस्कराहट शिशिर से धुली हुई गुलाब की कली के ही समान सौरभपूर्ण थी।

पुत्री की ओर दृष्टि जाते ही आजकल द्वारकानाथ का हृदय व्याकुल हो जाया करता। वे सोचते कि हाथ, इतने बड़े आदर की प्रतिमा को किसी दिन न जाने किस अयोग्य व्यक्ति के हाथ में सौंप देना पड़े ? मनुष्य का भाग्य भी कितना प्रबल होता है ! लक्षाधीश की समस्त शक्ति भी उसमें विन्दु-विसर्ग तक का परिवर्तन करने में कदाचित् समर्थ नहीं हो पाती, अन्यथा इस विशुद्ध हृदय की छोटी-सी बालिका के लिए उसके स्नेह-परायण पितामह इतने कठोर दण्ड का विधान क्यों कर जाते ? यह बात मन में आते ही जाती हुई प्रभा की दिव्यमूर्ति की ओर उन्होंने एक बार देखा और लम्बी साँस लेकर दृष्टि नीची कर ली।

इधर मन्दिर की पूजा पूर्ण आडम्बर के साथ चलती रही। परन्तु मन न तो पुजारी का सन्तुष्ट हो सका और न मन्दिर की सेविका का। पुजारी देवनाथ का आडम्बर से दूर रहकर ही साधना करने का सदा का अभ्यास था। इतने प्रचुर आयोजन के भार से उसका हृदय प्रायः व्यथित हो जाया करता। इतने कोलाहल और बाजा-गाजा के बीच में वह किसी प्रकार पूजा समाप्त कर लिया करता अवश्य; किन्तु उसका मन जम न पाता। पूजा की थार में सजाया हुआ ढेर का ढेर पुष्प यों ही पड़ा रह जाता। कटोरी में घिसकर रखे हुए चन्दन का कितना अंश

किसी उपयोग में ही न आता । बाहर निकलने पर वह एक बार मन्दिर की ओर ताक लेता और मन ही मन ग्लानि का अनुभव करते हुए वह सोचता—यह क्या मैं इतनी देर तक खेल करता रहा हूँ । पूजा तो मैंने की नहीं ? कहाँ मुझमें इतनी असमर्थता कि विलकुल एकान्त के बिना मैं अपने चित्त को स्थिर ही नहीं कर पाता हूँ, कहाँ इस कोलाहल के बीच में पूजा करने का व्रत मैंने ग्रहण किया है ! कितना दुस्तर है !

स्थान पर आकर नियमित कार्यों से अवकाश मिलने पर जब वह इष्ट-देवता के ध्यान में तन्मय होता तभी उसे शान्ति मिलती ।

बठा परिच्छेद

होलिका का उत्सव समीप था। मन्दिर में खूब धूमधाम का उत्सव होनेवाला था। उस दिन देव-विग्रह का खूब बढ़िया शृङ्गार होने को था। प्रभा अपने कमरे में बैठी हुई बड़े यत्न के साथ राधा की नीले रंग के रेशम की साड़ी पर जरी से फूल पत्तियों का काम कर रही थी। श्री-कृष्ण के लिए पीताम्बर उसने पहले से ही तैयार कर लिया था। पीले रेशम का जो उनके लिए उत्तरीय बनाया गया था उसके चारों ओर जरी के गोटे भर लगाने को थे।

सूर्य भगवान् को अस्ताचल पर पहुँचकर अपना मुँह छिपा लेने में बहुत अधिक विलम्ब नहीं था। होम-शिखा के समान लपलपाती हुई उनकी ज्योति आकाश के अर्द्धभाग में व्याप्त थी। उस रंगीन आलोक में स्नान कर लेने के बाद प्रकृति जितनी मौन्दर्यशालिनी हो उठी थी; बेल-बूटे के काम में ध्यान लगाकर बैठी हुई प्रभा उपनाम राधारानी उससे ज़रा भी कम सुन्दरी नहीं मालूम पड़ रही थी। राधा की नीली साड़ी के चौड़े किनारे पर उसने सुनहली और रुपहली जरी से बहुत ही बारीकी से फूल-पत्ती और लता आदि बनाया। उनके बीच में स्थान-स्थान पर सोने के भ्रमर भी उसने बना दिये, जो जीवनहीन होकर भी लेशमात्र मधु से हीन पुष्पों के सुवर्ण के पराग में मधु की खोज में निरर्थक छटपटा रहे थे। गोटे भी उसने क़रीब-क़रीब लगा लिये।

प्रभा ने किनारे को एक बार उजाले की ओर घुमाकर देखा। देखते ही मुग्धभाव से वह मुस्करा उठी। ज़रा देर तक उसे उलट-पलटकर देखने के बाद उसने रख दिया और अपनी रचना को प्रशंसा-पूर्ण दृष्टि से देखती हुई सुई के नाके में फिर ज़री डालने लगी। इतने में पीछे से किसी ने आकर उतावली के साथ उसकी आँखें मूँद लीं

और बाद को खिलखिलाकर हँसती हुई वह उसके पास ही आकर बैठ गई।

प्रभा अभी तक अपने धुन में ही मस्त थी। बाहर साँक की मधुर हवा चल रही थी, होली का दिन बहुत ही समीप होने के कारण सारा वायुमण्डल आनन्द से पूर्ण था और चारों ओर पिचकारियाँ चल रही थीं; परन्तु प्रभा का इन सबकी ओर ज़रा भी ध्यान नहीं था। वह तो अपने ध्यान के एकमात्र आधार श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रेयसी राधा की पोशाक तैयार करने में ही तल्लीन थी। सखी के हाथ के स्पर्श तथा उसकी खिलखिलाहट ने उसकी तन्मयता को कुछ भङ्ग किया अवश्य; किन्तु हाथ में सुई लिये ही लिये वह बोली—आहा ! शायद मैं जान नहीं पाई कि किसने मेरी आँखें मूँद रखी हैं ?

“जान क्यों न पाओगी ? तुम्हारे साथ इस तरह विनोद करनेवाला कोई दूसरा तो है नहीं ? परन्तु भाई, ऐसे मुहावने समय में तुम घर के कोने में क्यों बैठी हो ? चलो, ज़रा छत पर चलें !”—यह कहकर तुलसी ने उसके हाथ की सुई छीनने का प्रयत्न किया।

उतावली के साथ अपना हाथ खींचकर प्रभा ने मुस्करा दिया। बाद को वह बोली—इसमें इस तरह का हाथ न लगाओ बहन ! ये सब कपड़े ठाकुर जी के हैं। और छत पर क्या करना है भाई ? बैठो न, यहाँ पर बैठे-बैठे बातें भी होती रहें और इसे मैं बुनती भी रहूँ।

तुलसी की प्रभा से बड़ी ही घनिष्ठता थी। उसे विवश होकर छत पर जाने का लोभ तो संवरण करना ही पड़ा, बाद को ज़रा-सा हटकर मुस्कराती हुई वह बोली—मैं भी कपड़े बदलकर खूब पवित्र हुए बिना यहाँ नहीं आया करती हूँ, पण्डिताइन महोदया ! अच्छा बताओ तो कि यह सब हो क्या रहा है ?

प्रभा सुईकारी का जो काम कर रही थी, वह प्रायः समाप्त हो चुका था। सखी को दिखाती हुई वह बोली—देखो, कैसा हुआ है इसका काम ?

तुलसी ने प्रशंसात्मक भाव से ज़रा-सा मस्तक हिलाकर कहा—
खूब बढ़िया तो बनाया है तुमने । परन्तु तुम्हारे मन्दिर की सारी शोभा
बिगड़ गई है इस नये पुजारी के कारण । शायद वह पूजा आदि करना
भी ठीक से नहीं जानता । क्यों सखी, मन्त्र आदि उसे कुछ कण्ठस्थ
हैं या यां ही फूल-चन्दन चढ़ाकर पूजा समाप्त कर देता है ? चारों ओर
किंवदन्ती तो यही है कि मृत्यु के समय पुराने पुजारी जी की बुद्धि भ्रष्ट
हो गई थी, इसी लिए उन्होंने इसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर
दिया । अन्यथा इसे शास्त्र तथा पूजा-पद्धति आदि का कुछ भी ज्ञान
नहीं है ।

मन्दिर के पुजारी की निन्दा सुनना प्रभा स्वयं अपने तथा अपने
पिता के लिए अपमानजनक समझती थी । विशेषतः ऐसी परिस्थिति में
जब कि देवनाथ को निकालने का उन लोगों को कोई अधिकार नहीं
था । इससे उसने यही निश्चय किया था कि किसी प्रकार की आलोचना-
प्रत्यालोचना न करके देवनाथ से काम लेते रहना चाहिए । धीरे-धीरे
अपने आप वह सीख लेगा । परन्तु सखी के सामने अपने वास्तविक
मनोभाव को छिपाने में वह समर्थ न हो पाई । तीव्र असन्तोष के साथ
उसने कहा—मन्त्र तो क्या वह पत्थर जानता है । उससे तो लाख गुना
अच्छे तुम्हारे आद्या महाराज हैं ! परन्तु पुराने पुजारी जी की बुद्धि
सचमुच उस समय भ्रष्ट हो गई थी ।

आत्मीयता होने पर भी तुलसी आद्याप्रसाद जैसे दम्भी आदमी
को किसी प्रतिष्ठित पद के योग्य नहीं समझती थी । परन्तु कुछ भी हो,
वह था तो उसका अपना ही आदमी । इधर खाऊबीरों का एक दल
लिये हुए वह स्वयं उसी का गलग्रह भी हो रहा था और यह आशा
नहीं थी कि अपना अभीष्ट पद प्राप्त किये बिना वह उसका पिण्ड छोड़
देगा । इसी लिए इच्छा न होने पर भी तुलसी ने प्रभा के सामने यह
प्रसङ्ग छेड़कर नये पुजारी के सम्बन्ध में उसका मनोभाव जानने की
चेष्टा की थी । अन्त में उसे जब मालूम हुआ कि इस पुजारी का आसन

डगमग हो रहा है, तब यह अनुभव करके कि अधिक समय तक सम्भवतः आद्याप्रसाद के दल के आतिथ्य का भ्रंश न सहना पड़ेगा, मन ही मन कुछ शान्ति का अनुभव करनी हुई तुलसी ने इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त कर दिया ।

श्रीकृष्ण के लिए प्रभा ने जो पोशाक बना रखी थी उसे हाथ में लेकर खूब ध्यानपूर्वक देखती हुई तुलसी विनोद के स्वर में कहने लगी — इसी तरह की बढ़िया पोशाक पहनकर हमारी राधारानी के श्रीकृष्ण कब आयेंगे भाई ? सच कहती हूँ सखी, हम तो यही बात सोचते-सोचते आशी होती जा रही हैं ।

प्रभा ने कहा—मेरे श्रीकृष्ण कहीं दूर तो रहते नहीं जो उन्हें आना पड़ेगा । वे तो सदा मेरे साथ रहते हैं । मैंने अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दिया है । देखो, उन्हें सजाने के लिए कितनी उत्तम-उत्तम चीजें मैंने तैयार कर रखी हैं । क्या तुम लोग भी इस तरह अपने स्वामी को सजा सकती हो ? या इस तरह उनसे प्रेम कर सकती हो ? तुम लोगों के स्वामियों की तरह ये बात-बात में डाँट भी नहीं बताते रहने । ऐसे अजर और अमर स्वामी को, जो जगत् के स्वामी हैं, छोड़कर मैं किसी मनुष्य की दासी होना नहीं चाहती । मैंने स्वेच्छा से उन्हें अपना पति वरण कर लिया है ।

तुलसी इस बात को हँसी में ही उड़ा देना चाहती थी । परन्तु प्रभा बहुत ही गम्भीर थी । उसने कहा—तुम इसे मज़ाक समझती हो ? सच कहती हूँ कि मैं अपना तन-मन श्रीकृष्ण को अर्पित कर चुकी हूँ, उस पर किसी का अधिकार नहीं हो सकता । स्वयं मेरा भी ।

अविश्वाम से भरी हुई हँसी हँसकर तुलसी ने कहा—देखूंगी मग्गी, देख लूंगी ! अभी तो उमर बीत नहीं गई ।

सातवाँ परिच्छेद

देवनाथ मन्दिर में पहले दिन जिस मूर्तिमती प्रतिमा को देख आया था, वह उसे प्रतिदिन ही वहाँ पर प्रतिष्ठित मिला करती। परन्तु वह कौन है और कहाँ से आती है, इसका उसे न तो पता था और न यह जानने के लिए उसके मन में किसी प्रकार का कौतूहल था। वह पूजा या आरती के लिए जब कभी आता तब उसे वहीं प्रतिष्ठित पाता और वहीं उसे छोड़कर वह चला जाता। वह इस तरह निश्चलभाव से बैठी रहती; मानो स्वयं भी संगमरमर की बनी हुई एक प्रतिमा है। इस प्रकार अनन्यभाव से देवता की सेवा-पूजा में ध्यान लगानेवाली इस देव-प्रतिमा जैसी मुन्दरी के प्रति देवनाथ के हृदय में बहुत श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ था। उसके मन में यह बात आई थी कि इतनी अल्प अवस्था में इस प्रकार की रूपराशि लेकर गिरिराजकिशोरी पार्वती के ही तपस्या में निरत हो गई है, यह एक आश्चर्य की बात है।

मन्दिर में प्रतिष्ठित इन तीसरी प्रतिमा के प्रति देवनाथ के हृदय में जहाँ इतना अधिक श्रद्धा का भाव था; वहीं उसके सम्वन्ध में उसे थोड़ा-सा सन्देह भी होने लगा। जब कभी उस प्रतिमा की ओर एकाएक उसका ध्यान गया है, तब एकाग्रभाव से उसी की ओर देखती हुई वह मिली है। ऐसा अवसर जब कभी आया है देवनाथ ने तुरन्त ही अपनी दृष्टि नीची कर ली है। परन्तु इस कारण उसने मन में कुछ अशान्ति का अनुभव अवश्य किया है। यह बात अवश्य थी कि देवनाथ एक बहुत ही गम्भीर आदमी था और उसने मन में सन्देह के उस भाव को जड़ जमाने का अवसर नहीं दिया। मूर्ति-पूजा का देवनाथ को पहले से कोई अभ्यास नहीं था। देवता के प्रति अनन्यभाव से भक्ति करनेवाली इस किशोरी के आदर्श से वह बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर रहा था और इस

बात के लिए वह बराबर सचेष्ट रहता कि पूजा में किसी प्रकार की भूल करके कहीं मैं इसके निष्ठापूर्ण हृदय पर आघात न पहुँचा दूँ। परन्तु वास्तव में इस दिशा में देवनाथ कहीं तक सफल हो रहा था, इसका उसे ज्ञान नहीं था। अपने नियमित अभ्यास के अनुसार ध्यान में तन्मय रहकर समय-समय पर पूजा-सम्बन्धी कार्यों में भूल करके परीक्षा के निमित्त बराबर बैठी रहनेवाली किशोरी के ललाट पर कितनी बार स्वेद उत्पन्न कर दिया करता था, इस बात का उसे कभी पता ही नहीं चला करता था।

धीरे-धीरे होलिकोत्सव का दिन आया। पुजारी जी देवता की यथा-विधि पूजा करने के निमित्त बैठे। आज का शृङ्गार बहुत ही अपूर्व था। इस बार दस हज़ार रुपयों की कीमत का एक नया हीरा श्रीकृष्ण की चूड़ा की शोभा बढ़ा रहा था। यह हीरा ज़मींदार द्वारकानाथ ने कन्या को दिया था; किन्तु भक्तिमती कन्या ने स्वयं न धारण करके अपने उपास्य देवता के ही निमित्त इसे उत्सर्ग कर दिया था। ऐसी दशा में कन्या के मुख से सुखी होनेवाले पिता के लिए यह कहाँ सम्भव था कि वे उसे ऐसा करने से रोकते।

मन्दिर के बाहर भी उस दिन बड़ी धूम थी। विभिन्न प्रकार के बाजे बज रहे थे। कीर्तन-मण्डलियाँ अलग 'राधेश्याम, जय राधेश्याम' की ध्वनि से आकाश को गुञ्जायमान कर रही थीं। ऐसे घोर कोलाहल के बीच में अत्यन्त एकान्तप्रिय देवनाथ ने देवता की पूजा समाप्त की।

यहाँ की सदा की व्यवस्था के अनुसार आज से लेकर एक मास तक प्रतिदिन दो बजे से व्यासगद्दी पर विराजमान होकर पुजारी जी को ही भगवान् की कथा-रूपी अमृत से श्रोताओं को अभिषिक्त करना था। ठाकुरद्वारे के दालान के दोनों ओर जो कोठरियाँ थीं, उनमें आसन बिछे हुए थे और उनके द्वार पर चिक पड़ी थी। बाहर जाजिम बिछा था, जिस पर प्रायः सहस्र व्यक्तियों के बैठने के लिए पर्याप्त स्थान था। गद्दी, तकिया, पान, इलायची तथा इत्र आदि स्वागत-सत्कार की सब

प्रकार की सामग्रियों की भरमार थी, साथ ही किसी भी श्रेणी या अवस्था के आदमी को वहाँ बैठने की रोक-टोक नहीं थी।

यथासमय कथावाचक महोदय ने व्यासगद्दी पर आसन लगाया। जूही की कलियों की सुन्दर माला उनके गले में झूलने लगी। पुष्प और चन्दन से मस्तक सुशोभित हो उठा। श्रोतागण भी उत्सुकभाव से अपने-अपने स्थान ग्रहण किये। यथाविधि मङ्गलाचरण के बाद कथा आरम्भ हुई। कथावाचक था वही देवनाथ, जो इतना सङ्कोचशील था कि किसी के सामने जी खेलकर बातें तक नहीं कर पाता था। ऐसे आदमी के लिए यह एक असम्भव-सी बात थी कि वह इतनी बड़ी भीड़ में जमकर कथा बाँच सकता। देवनाथ ने पुराणों का पाठ किया था, किन्तु केवल आत्म-सुख के लिए, दूसरों का मनोरञ्जन करने के लिए नहीं। ऐसी दशा में स्वभावतः उसे इस लोक-रञ्जन के कार्य में असफल होना पड़ा।

चिक की आड़ में स्त्रियों के दल की अग्रवर्त्तिनी होकर प्रभा भी कथा सुन रही थी। स्त्रियाँ आराम से पान कूँच रही थीं। कोई चूना माँगती तो कोई इलायची या तम्बाकू माँग बैठती। वे आपस में गप-शप भी करती जाती थीं, उनमें से किसी का भी कान कथावाचक की ओर नहीं लगा था। उस दल में केवल प्रभा ऐसी थी, जो कि कथा की अवश करके सञ्चित किये गये समस्त स्त्रियों के पाप का एकाग्रभाव से प्रायश्चित्त कर रही थी। अपनी समस्त इन्द्रियों को मानो श्रवणेन्द्रिय में केन्द्रित करके वह कथावाचक की ओर ध्यान लगाये हुए थी।

तन्मय होकर कथा-रूपी अमृत का पान करना प्रभा का सदा का अभ्यास था। इसलिए एकाग्रभाव से ध्यानावस्थित होकर उसने कोई नया काम नहीं किया। परन्तु उसके मनोभाव में नवीनता अवश्य थी। आज तो उसका ध्यान कथावाचक की ओर उसी प्रकार लग सका, जिस प्रकार कि परीक्षक का ध्यान परीक्षार्थी का पाठ सुनने में लगता है। देवनाथ जब कभी स्वर-भंग करता, अकारण रुक जाता या भाव

स्पष्ट करने में झुटि करता तब प्रभा भूला उठती। ज़ांभ और रोप के भाव उदय होकर उसके अन्तःकरण में इतने ज़ोर का द्वन्द्व मचाते कि वह अधीर हो उठती। साँझ तक प्रभा ने बड़ी कठिनाई से वहाँ अपने आपको रोक पाया।

जर्मीदार द्वारकानाथ के द्वारा देवनाथ को रात्रि में इस बात की सूचना मिल गई कि आज भी उनकी कथा “ध्रुव-चरित्र” का वर्णन उतना हृदय-ग्राही नहीं हुआ। कम से कम राधारानी इससे बहुत लुब्ध हुई हैं। इस सूचना से अपनी असमर्थता के कारण देवनाथ बहुत ही दुःखी हुआ। परन्तु असाध्य साधना करने के बाद भी वह कथा अच्छी तरह जमा न सका। उसकी वाणी में न तो वैसी सरसता आ पाई और न भावों की वे तरङ्गें आ सकीं, जिनसे कि वह श्रोताओं को कभी भावावेश से विह्वल कर देता और कभी उनमें गुदगुदी पैदा कर देता। देवनाथ की कथा में गम्भीरता की मात्रा अवश्य काफी थी और जिनका हृदय निष्कपट श्रद्धा से पूर्ण था, उन्हें प्रभावित किये बिना उसकी वाणी नहीं रहती थी। यही कारण है कि राधारानी कथा सुनने के लिए प्रतिदिन आ जाया करती थी, यद्यपि पन्द्रह दिन के प्रयत्न के बाद भी श्रोताओं को सन्तुष्ट करने की शक्ति देवनाथ में न आ सकी। सरस से सरस प्रसंग में न तो कभी वह श्रोताओं के अधरों पर हँसी की रेखा विकसित करने में समर्थ हो पाया और न करुण से करुण प्रसंग में किसी के नेत्रों में जल आ सका। इससे गली-गली कथावाचक की निन्दा होने लगी।

एक दिन की बात है। देवनाथ पूजा करके जा चुका था। एकाएक राधारानी की दृष्टि देव-विग्रह के चरणों पर पड़े हुए रक्त के समान लाल गोड़हर के पुष्प पर पड़ी। उसे देखते ही राधारानी भय से काँप उठी। उसने मन ही मन अधीर होकर कहा—इतना मूर्ख यह पुजारी है! इसको इतना भी ज्ञान नहीं है कि कौन-सा पुष्प किस देवता को समर्पित करने का विधान है! गोड़हर का यह रक्त पुष्प तो नर-

मुण्डमालिनी करालवदना काली की भयङ्कर मूर्ति पर ही शोभा देता है। प्रेमावतार श्रीकृष्ण के चरणों के समीप स्थान पाने का अधिकारी यह नहीं है। यह तो अनिष्ट-सूचक है !

पुजारी देवनाथ अब राधारानी के लिए असह्य हो उठा। उसने निश्चय कर लिया कि अब मूर्त्त को मन्दिर से दूर किये बिना मैं न रहूँगी। मन्दिर में पड़ी-पड़ी अनशन करके प्राण-त्याग कर दूँगी या देव-विग्रह को लेकर सड़ में डूब मरूँगी। अन्त में राधारानी का यह निश्चय कार्य-रूप में परिणत हुआ। उस दिन कथा के समय व्यास-गद्दी पर आसन मिला आद्याप्रसाद को। अपनी तड़क-भड़क और गर्जन-तर्जन से श्रोताओं की मण्डली में उसने मरसता उत्पन्न कर दी। कथा के द्वारा विनोद-प्रेमियों का मनोविनोद पूर्णरूप से होने लगा। पूजा-आरती का कार्य-भार उसे ही सौंपा गया। राधाकृष्ण को गोड़हर का फूल समर्पित करके पुजारी ने जो घोर पाप किया था, उसके प्रायश्चित्त के लिए आद्याप्रसाद ने खूब लम्बी-चौड़ी व्यवस्था दी, जिसके अनुसार मन्दिर की सेविका ने विधिवत् प्रायश्चित्त करके अनिष्ट की शान्ति की।

देवनाथ को बुलाकर ज़मींदार द्वारकानाथ ने जब बातें कीं तब उसकी निरभिमान और ब्राह्मणोचित सरलता से मण्डित आकृति देखकर वे बहुत ही प्रभावित हुए। उनके मन में यह बात आई कि कितना विनम्र और सरल है यह युवक। विद्या-बुद्धि भी इसमें कम नहीं मालूम पड़ती। सम्भव है कि भ्रमवश पूजा में इसने कोई त्रुटि कर दी हो; किन्तु पुस्तक आदि देखकर वह उसे सुधार भी तो सकता है। परन्तु राधारानी की इच्छा के विरुद्ध वे उसे मन्दिर में रख नहीं सकते थे। इधर राधारानी की आँखों का वह काँटा हो उठा था। फलतः आद्या-प्रसाद के लिए स्थान रिक्त कर देने के अतिरिक्त देवनाथ के लिए और कोई उपाय नहीं था।

देवनाथ को इस आडम्बरपूर्ण मन्दिर में पूजा करने का जो अधि-

कार मिला था, उसके कारण वह वैसा सुखी नहीं हुआ था। उसे तो राज-प्रासाद की शोभा का भी मात करनेवाले इस मन्दिर में बैठकर पूजा करने की अपेक्षा घर के कोने में बैठकर शालिग्राम शिला की पूजा करने में कहीं अधिक सुख, कहीं अधिक शान्ति मिला करती थी। परन्तु देवालय के पूजा के अवसर पर बजाये जानेवाले बाजों की गम्भीर ध्वनि के कारण ध्यान भंग हो जाने या मन्त्र के उच्चारण में दोष आ जाने पर देवनाथ प्रायः अशान्ति का अनुभव किया करता था। आज उसी में से निकल आने पर वह एक प्रकार के विषाद का भी अनुभव करने लगा।

तो क्या देवनाथ को मन्दिर से पृथक् होने में दुःख मालूम पड़ रहा था ? परन्तु उसके दुःखी होने की इसमें कौन-सी बात थी ? दुःखी तो मनुष्य तब हुआ करता है, जब कि उसके किसी प्रकार के सुख का अभाव हो जाय। मन्दिर में पुजारी का पद प्राप्त करने में जब उसे किसी प्रकार का सुख ही नहीं था तब फिर उसे रिक्त करने समय वह दुःखी क्यों होने लगा ? परन्तु देवनाथ ने हृदय में इस बात के लिए कुछ लज्जा का अनुभव अवश्य किया था कि मुझे अकारण दूसरे की आन्तरिक वेदना का पात्र होना पड़ा है। इसके सिवा गुरु के विश्वास की रक्षा करने में जो वह समर्थ नहीं हो सका, इसके लिए भी उसके मन में कुछ खलानि उत्पन्न हुई थी। परन्तु उसका यह लज्जा और खलानि का भाव अधिक समय तक स्थायी न रह सका।

पाठशाला के एकान्त कोने में बैठकर देवनाथ सोचने लगा—चलो, अच्छा हुआ, जिसका जो न्याय संगत अधिकार है, उसे वह मिल गया। मैं अनुचित रूप से आकर उसके मार्ग में बाधक हो गया था। मेरे क्षमताहीन कन्धों पर जो यह अध्यापन-कार्य का भार निहित है, उससे यदि मुझे अवकाश मिल जाता तो फिर अनधिकार चेष्टा से मुझे पूर्णरूप से मुक्ति मिल जाती। अन्त में मन ही मन प्रसन्न होकर कल्पनारूपी नेत्रों को उसने मन्दिर की ओर लगाया। उसे ऐसा मालूम पड़ा कि मानो भक्ति के भार से मस्तक झुकाये हुए मन्दिर की

सेविका बैठी नये पुजारी की पूजा करने का ढङ्ग देख रही है। पुजारी खूब आडम्बर के साथ जोर से मन्त्रों का उच्चारण करके पूजा कर रहा है और मन्दिर की सेविका प्रमत्त हो रही है। अन्त में मन की रही-सही ग्लानि को भी दूर करके पूर्ण शान्ति का अनुभव करता हुआ वह अपने कार्य में संलग्न हो गया।

देवनाथ के ऊपर अब केवल अध्यापन का ही कार्य-भार रह गया। पाठशाला एक तरह से उखड़ ही चुकी थी; क्योंकि यहाँ का सबसे पुराना विद्यार्थी आद्याप्रसाद अपना दल लेकर देवनाथ के अध्यापक-पद ग्रहण करने से पहले ही चला गया था। उसके साथ में प्रायः सभी बड़े विद्यार्थी निकल गये थे, इससे पाठशाला की धूमधाम और चहल-पहल भी प्रायः समाप्त हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जो बचे-बचाये विद्यार्थी थे उनका भी मन प्रायः बहुत कम लगा करता था। केवल दो-चार ऐसे ज्ञान-पिपासु विद्यार्थी थे, जो पहले की अपेक्षा भी अधिक प्रसन्न, अधिक तन्मय होकर विद्याध्ययन करने में संलग्न हुए। परन्तु इतना अवश्य था कि देवनाथ ने पहले-पहल जब अध्यापक का पद ग्रहण किया था, उस समय की-सी अशान्ति अब पाठशाला में नहीं रह गई थी। कुछ विद्यार्थी ऐसे रह गये थे अवश्य, जो कि आद्याप्रसाद के दल से प्रभावित थे और देवनाथ के विरुद्ध पङ्कज करने के सम्बन्ध में विचारों का आदान-प्रदान बराबर करते रहते थे, यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार का विद्रोह करने का साहस नहीं किया करते थे।

पुजारी के कार्य-भार से मुक्ति प्राप्त करने के बाद दोपहर को पाठशाला में एक कम्बल पर बैठा हुआ देवनाथ किसी गम्भीर विषय के अनुसन्धान में व्यस्त था। कई पुरानी पुस्तकें खुली हुई उसके सामने रखी थीं। इतने में एक विद्यार्थी हाथ में एक पुस्तक लिये हुए आया और विनीतभाव से अध्यापक के पास बैठ गया। उस विद्यार्थी का नाम था हरिशरण। हरिशरण बहुत ही शान्त, शिष्ट और परिश्रमी विद्यार्थी था। देवनाथ जब विद्यार्थी था तब हरिशरण उससे एक

गुरुभाई के रूप में स्नेह किया करता था, बाद को जब वह अध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया तब भी उसे उससे किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं हुई। उसने देवनाथ का यथोचित सम्मान करना ही अपना कर्त्तव्य समझा। अस्तु, कुछ क्षण की प्रतीक्षा के बाद हरिशरण ने कहा—क्या आपको विलम्ब में अवकाश मिलेगा ? मुझे ज़रा-सा सन्देह था ?

“अच्छी बात है, तो बोलते क्यों नहीं ?”

हरिशरण ने न्यायशास्त्र के सम्बन्ध की एक पंक्ति पढ़कर उसके सम्बन्ध में अपना सन्देह उपस्थित कर दिया। अब गुरु-शिष्य में तर्क-वितर्क होने लगा। घट-पट, मृत्तिका, तन्तु, कुलाल, चक्र आदि से लेकर कार्य, कारण, उपादान आदि के विषयों की चर्चा खूब ज़ोरों से जारी हुई, अन्त में आत्मा, परमात्मा तथा सृष्टि, प्रलय आदि तक वह चर्चा पहुँची। इसी प्रकार बातें होते-होते स्वामी शङ्कराचार्य के विषय में बातें आरम्भ हुईं। इतने में हरिशरण बोल उठा—सुनने में आया है कि स्वामी शङ्कराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध थे। मुझे स्वयं इस विषय में कुछ विशेष ज्ञान नहीं है, किन्तु सुना मैंने यही है कि शायद वे मायावादी थे। यहाँ तक कि वे ब्रह्मवाद को भी स्पष्ट रूप से नहीं स्वीकार करते थे।

देवनाथ के शान्त मुख पर वेदना की रेखा उदित हो आई। ज़रा-सा तैश में आकर उसने कहा—उनकी समालोचना करने के अधिकारी हम लोग नहीं हैं। मैं कैसे स्वामी शङ्कराचार्य को निरीश्वरवादी मान लूँ ? संस्कृत भाषा में देवी-देवताओं के उन्होंने कितने सुन्दर-सुन्दर और सुललित स्तोत्र लिखे हैं। जिस समय ईश्वर की सत्ता पर हड़ताल फेरनेवाले शून्यवादी बौद्ध-धर्म का डङ्का केवल इस धर्मभूमि भारत में ही नहीं, बल्कि अन्य कितने ही देशों में बड़ी धूम से बज रहा था; हमारे इस परम्परागत सनातन-धर्म को ऋषि-महर्षियों की सन्तानें होकर भी भारतवासी लोग प्रायः भूल चुके थे, उस समय हिमालय पर्वत की तराई से लेकर समुद्र-तट तक के सुविस्तृत भूभाग के निवासियों तक की निद्रा अपनी तुमुल शङ्खध्वनि के द्वारा किसने भङ्ग की थी ? बौद्धों के प्रभाव से

मुक्त करके देश-वासियों को फिर से सनातन-धर्म की दीक्षा देनेवाले वे स्वामी शङ्कराचार्य ही तो थे ? ऐसी दशा में मैं यह कैसे मान लूँ कि वे ब्रह्मवादी भी नहीं थे ?

देवनाथ की यह बात सुनकर हरिशरण ज़रा देर तक गम्भीर भाव से सोचता रहा। बाद को उसने कहा—यह बात तो आप ठीक कह रहे हैं। ‘नित्यानन्दकरी’ कहकर उन्होंने प्रकृति-माता की जो स्तुति की है, उससे यह तो नहीं प्रकट होता कि देवी के प्रति उनके हृदय में समुचित भक्ति नहीं थी। परन्तु उस दिन आद्या-गुरु की पाठशाला में वेदान्त के विषय में एक पण्डित जी से बातें हो रही थीं। मैं भी वहाँ उपस्थित था। आद्या-गुरु उस समय बड़े आग्रह के साथ कह रहे थे कि शङ्कराचार्य ने ‘नास्तिकवाद’ का प्रचार किया है।

देवनाथ का अधिक तर्क-वितर्क करने का स्वभाव नहीं था। इसलिए इस बात को यहीं समाप्त कर देने के विचार से वह चुप रह गया। देवनाथ की धारणा थी कि यह तो विश्वास का विषय है, विवाद का विषय है नहीं, इसलिए किसी के मत का प्रतिवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

हरिशरण देवनाथ के स्वभाव से खूब परिचित था। उसने यह अनुभव किया कि कदाचित् मेरी बातों से अध्यापक जी के मन को कुछ वेदना पहुँची है। इसलिए कुछ लज्जितभाव से उनसे कहा—परन्तु इसमें कोई बात नहीं है, आद्या-गुरु तो अपने मत के पीछे लट्ट तक चलाने को उद्यत रहते हैं। उनकी बात जाने दीजिए। मेरे विचार से आपकी बातों का अर्थ यह है कि आप आत्मा और ईश्वर के एकत्व को स्वीकार करते हैं।

देवनाथ ने कहा—आत्मा और ईश्वर क्यों कहते हो ? आत्मा और परमात्मा कहो। मैं क्या, वेद-वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि सभी तो इस अखण्ड सत्य का प्रतिपादन करते आ रहे हैं।

देवनाथ और हरिशरण में ये बातें हो ही रही थीं, इतने में विश्वनाथ

नामक आद्याप्रसाद का एक चर भट्ट सं आ पहुँचा और विवाद बढ़ाने के विचार से उसने कहा—क्या कहते हो, आत्मा और परमात्मा में एकत्व है ? यह कैसी बात है ? कहाँ सर्व-शक्तिमान् परमात्मा और कहाँ विभिन्न प्रकार के दोषों से पूर्ण मनुष्य, जो कीट-पतङ्ग के ही समान हेय है; इन दोनों में एकत्व का आरोपण करना भला कहीं सम्भव है ? भाई, आप-जैसे सर्व-शक्तिमान् पुरुष का मत हम साधारण श्रेणी के मनुष्यों की धारणा से परे है । आप वैष्णव होकर शाक्त का भी आचरण ग्रहण कर सकते हैं, न्याय पढ़ाते समय वेदान्त के मत का प्रतिपादन करते हुए उसका खण्डन करने लगते हैं, इधर बौद्ध-मत को भी आस्तिक मत के रूप में स्वीकार करने में आपको कोई आपत्ति नहीं मालूम पड़ती है । बलिहारी है आपकी बुद्धि की ! हम लोग भी आप-जैसा अध्यापक पाकर धन्य हो गये हैं । परन्तु आप यदि कुछ दिन रह गये तो एक वैष्णव के द्वारा धर्म-प्रचार के निमित्त खोली गई इस पाठशाला को ईसाई-धर्म का प्रचार करनेवाले मिशन के रूप में परिवर्तित किये बिना न रहेंगे !

इतना कहकर विश्वनाथ बहुत ही उत्तेजित भाव से उठ खड़ा हुआ । हरिश्चरण ने उसका डुपट्टा पकड़ लिया और बहुत ही विनम्र भाव से वह कहने लगा—भाई, इतना अप्रसन्न क्यों हो रहे हो ? पहले ज़रा बात को समझ तो लो, फिर जो कुछ कहना हो कहना । सावधानी के साथ किसी विषय पर विचार किये बिना क्रुद्ध हो उठना ठीक नहीं है । परन्तु विश्वनाथ इस प्रकार शान्त होनेवाला आदमी तो था नहीं, भटककर अपना डुपट्टा छुड़ाते हुए वह बोला—तुम्हारी तरह एक पाखण्डी आदमी की खुशामद करनेवाला मैं नहीं हूँ । अभी जाकर अध्यक्ष महोदय से मैं सारी बातें कहता हूँ ।

साँझ को ज़मींदार के दरबार में देवनाथ का बुलावा हुआ और उसे अध्यापक के पद का भी चार्ज आद्याप्रसाद को दे देने की आज्ञा हुई । इस प्रकार मुस्कराता हुआ देवनाथ मनोहरपुर से बिदा हुआ ।

आठवाँ परिच्छेद

साधारण आकार का एक बगीचा था। उस बगीचे के मध्य भाग में एक दोमंज़िला मकान था। उस मकान के ऊपरी भाग में बैठने के लिए जो कमरा बाहर की ओर बना था, वह बहुत ही बढ़िया था और उत्तम श्रेणी के एक गृहस्थ की बैठक की सजावट के लिए जिन-जिन वस्तुओं का होना आवश्यक है, वे सभी उसमें वर्तमान थीं।

रात का समय था। स्थान-स्थान पर लटकते हुए झाड़ों की रोशनी से सारा कमरा धवलित था। फूलों और इत्र की सुगन्धि से वहाँ का वायुमण्डल सौरभ-पूर्ण था। सफ़ेद जाजिम पर बैठी हुई प्रसिद्ध सुन्दरी जोहराबाई बाजे की ताल में ताल मिलाकर गा रही थी। गृह-स्वामी मदनमोहन खूब मोटी-सी तकिया में ठेस लगाये हुए तन्मय होकर सुन रहे थे। उनके आस-पास मित्र-मण्डली के लोग विराजमान थे। वे प्रायः सभी भंग के नशे में चूर थे। गीत के एक चरण से मुग्ध होकर कोई हाथ पर ताल देने लगता, कोई भूमि पर चरण का आघात करके अपने सङ्गीत-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय देता और कोई यों ही भावावेश के साथ मस्तक हिला-हिलाकर गायिका की ओर प्रशंसापूर्ण दृष्टि से ताककर उसे उत्साहित करता।

बहुत अधिक रात्रि व्यतीत हो जाने पर नृत्य-गीत का अवसान हुआ। समयोचित जलपान-आदि के बाद विश्राम की तैयारी होने लगी। दक्षिणा ग्रहण करके समाजियों के साथ बाई जी बिदा हुई। मित्र-मण्डली के लोग भी मदनमोहन को नमस्कार करके अपने-अपने घर की ओर चले।

मदनमोहन की बैठक की सजावट में जितना व्यय किया गया था, उसका चौथाई अंश भी यदि मकान के दूसरे भागों में किया गया होता तो

कदाचित् उस स्थान की शोभा कुछ और ही होती। रात्रि में इतने सुन्दर बगीचे में कहीं एक लालटेन तक न जलती। बैठक के झाड़ जलाकर जब खिड़कियाँ खोल दी जातीं तब अवश्य उनका प्रकाश बिखर-बिखर कर बगीचे में इस प्रकार मालूम होता; मानो आकाश पर चन्द्रमा उदित हैं और उन पर पड़े हुए मंघ के आवरण से छन-छन कर उनकी किरणें भूमि पर पड़ रही हैं। उस धुंधले प्रकाश में रात्रि में भी बगीचे के फूलों और पत्तियों की शोभा जहाँ-तहाँ देखने को मिल जाती। परन्तु कमरे में समय-समय पर लोगों के खड़े होने या चलने-फिरने पर प्रकाश की वे क्षीण रेखायें भी छाया में दब जातीं और ऐसा जान पड़ता कि मानो आकाश-मण्डल में विजली का खेल मचा हुआ है।

मकान के भीतर का अंश बगीचे की अपेक्षा भी अधिक उपेक्षा-पूर्ण अवस्था में था। एकाएक देखने पर तो यही मालूम पड़ता कि मानो इस ओर मनुष्य का वास नहीं है। अन्धकार से पूर्ण एक बहुत बड़े दालान में खड़े होकर मदनमोहन ने 'दीदी, दीदी' कहकर पुकारना आरम्भ किया। परन्तु किसी ने कोई उत्तर न दिया। दालान की बल्ली के एक खोखले से निकलकर एक चमगादड़ उस समय उड़ गया। बाहर के एक वृत्त पर एक उल्लू भी जोर-जोर से बोलने लगा। इन दोनों ने अपने इंगित और आचरण से कदाचित् यही व्यक्त किया कि यह तो हम लोगों के एकान्त में विचरण करने का समय है। इसे तुम क्यों हमसे छीनने का प्रयत्न कर रहे हो? परन्तु मन ही मन रोष का भाव प्रकट करने की अपेक्षा उन बेचारों के पास और उपाय ही क्या था? मदनमोहन तो विधाता की सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ अङ्ग अर्थात् मनुष्य-वर्ग का एक प्राणी था। इन तुच्छ जीव-जन्तुओं के इङ्कित की ओर ध्यान देने की उसे क्या आवश्यकता थी? उसका स्वर पञ्चम से सप्तम पर पहुँचा, परन्तु कहीं से कोई उत्तर नहीं आया।

मदनमोहन अभी तक तो अपनी विलास-सृष्टि को निवृत्त करने में

तन्मय था। उसे इस ओर ध्यान देने का कोई अवसर ही नहीं था कि रात्रि कितनी अधिक व्यतीत हो गई है और 'दीदी' नामक जीव-विशेष के जागने का यह समय है या वे इस समय प्रगाढ़ निद्रा का आश्रय ग्रहण किये होंगी। अस्तु, कुछ क्षण की प्रतीक्षा के बाद खट से एक कमरे का द्वार खुलने का शब्द हुआ और उस द्वार का जो ज़रा-सा अंश खुल गया था उससे निकलकर दीपक का टिमटिमाता हुआ प्रकाश उस अन्धकारमय कमरे में आने लगा। द्वार की ओर ताकते ही मदनमोहन के मुख का भाव परिवर्तित हो गया, उसकी सारी प्रसन्नता जाती रही।

ज़रा देर की द्विविधा के बाद मदनमोहन उस कमरे की ओर बढ़ा। उस समय यदि कोई मनोविज्ञान का ज्ञाता उसकी आकृति का अध्ययन करने का प्रयत्न करता तो उसे यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती कि इस समय इसके हृदय में एक प्रकार की लज्जा तथा स्वार्थ-साधन की भावना का साथ ही साथ उदय हो आया है।

कमरा बहुत छोटा नहीं था। उसमें प्रतिदिन के उपयोग की सामग्रियाँ जो रक्खी थीं, वे भी वैसी दरिद्रता की सूचक नहीं थीं। खाट पर खूब साफ़-सुथरा बिस्तर लगा था। परन्तु वह कभी उपयोग में नहीं आया, यों ही पड़ा था। फ़र्श पर बिछी हुई चटाई पर एक पुस्तक खुली पड़ी थी। समीप ही पीतल की एक दीवट पर मिट्टी का दीपक टिमटिमा रहा था और तेल का अभाव होने के कारण उसकी शिखा क्रमशः क्षीणतम अवस्था को प्राप्त होती जा रही थी। मदनमोहन द्वार के समीप खड़े-खड़े चारों ओर ताकने लगा। आधे घूँघट से मुख ढँके हुए एक अल्पवयस्का नवयुवती खड़ी थी। उसकी ओर ताकते हुए मदनमोहन ने कहा—दीदी शायद सो गई हैं ?

नवयुवती निस्तब्ध भाव में खड़ी रही। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

कुछ क्षण की प्रतीक्षा के बाद मदनमोहन ने फिर कहा—देखो, मैं सवेरे की गाड़ी से बाहर जा रहा हूँ। उन्हें इस बात की सूचना दे

देना, अन्यथा वे अप्रसन्न होंगी। मुझे बहुत सवेरे ही निकल जाना पड़ेगा, इससे स्वयं मुझे उनसे यह बात कहने का अवसर न मिलेगा।

नवयुवती पहले की ही तरह स्थिर होकर खड़ी रही। उसकी आकृति पर किसी प्रकार की लज्जा या हर्ष-विषाद का भाव नहीं उदित हुआ। यदि ज़रा-सा मस्तक हिलाकर भी वह अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति का भाव व्यक्त कर देती तो सारा संकट अनायास ही दूर हो जाता, मदनमोहन के लिए कोई उलझन न रह जाती। मदनमोहन को दीदी से ज़रा-ज़रा डरना ही पड़ता था। उसे यह भली भाँति मालूम था कि दीदी को सूचना दिये बिना यदि मैं चला गया तो लौटकर आने पर मुझे कितनी फटकार सुननी पड़ेगी। इसलिए मन ही मन अत्यधिक क्रुद्ध होने पर भी द्वार छोड़कर हटना उसे कल्याणकर नहीं मालूम पड़ा। रोषमय स्वर में उसने फिर कहा—सुनती नहीं हो जी? भूलना मत। दीदी से कह अवश्य देना! मैं विशेष कार्य से जा रहा हूँ। लौटकर आने पर उनसे सब बतलाऊँगा। साँक को तार से सूचना मिली है। परन्तु उस समय महफ़िल खूब जमी हुई थी, इससे उठकर मैं आ न सका। तुम दीदी से कह अवश्य देना, भूलना मत। कह दोगी न?

इस बार रमणी ने मुँह खोला। अपने खुले और उलझे हुए बालों के एक गुच्छे को ललाट पर से हटाती हुई सिर ज़रा-सा ऊपर उठाकर मृदु कण्ठ से वह बोली—कहाँ जाओगे?

मदनमोहन को इस प्रकार के प्रश्न की आशा नहीं थी। उसने अपने मन में कभी ऐसी धारणा को स्थान नहीं दिया था कि इस नव-युवती ने अपने मन में मेरे सम्बन्ध में किसी प्रकार के कौतूहल को स्थान दे रक्खा होगा। इससे वह विस्मित हो उठा। परन्तु उस विस्मय का दमन करके दीपक के क्षीण आलोक में, मेघ से ढँके हुए चन्द्रमा के समान, नवयुवती के सुन्दर मुख को वह ध्यानपूर्वक देखने लगा। कितनी स्निग्ध और चञ्चलता से रहित उसकी दृष्टि थी! उस दृष्टि में इतनी

शीतलता, इतनी स्निग्धता वर्त्तमान थी, मानो वह सारे संसार का ताप, सारे संसार की व्यथा शान्त करने में समर्थ है। नवयुवती की ओर निमेष भर ताककर मदनमोहन ने दृष्टि फेर ली। कदाचित् उसे यह आशङ्का हुई कि कहीं मैं इसकी सम्मोहिनी शक्ति के प्रभाव में न आ जाऊँ। कुछ सोच कर ज़रा-सा संकोच के साथ कोमल स्वर में उसने कहा— एक काम से जाना है ?

“कहाँ ?”

“एक जगह।”

“कौन-सी जगह है वह ?”

नवयुवती के स्वर में तीव्रता या कौतूहल का भाव नहीं था। दृढ़ता की मात्रा उसमें अवश्य काफी अधिक थी। परन्तु श्रोता को इससे सन्तोष के स्थान में विरक्ति ही हुई। उसने ज़रा-सा तैश में आकर उत्तर दिया—कौन कहे कि इस भूमण्डल में जितने भी स्थान हैं, उन सबका हाल तुम्हें मालूम है, इसके सिवा मैं इसके लिए बाध्य भी तो नहीं हूँ कि मैं जहाँ कहीं भी जाऊँ या जो भी करूँ, उसका हिसाब-किताब तुम्हारे सामने पेश किया करूँ !

नवयुवती कुछ बोली नहीं। उसके अधर पर हँसी की एक क्षीण रेखा भर विकसित हो आई।

उसकी ओर ज़रा-सा ताककर मदनमोहन ने कहा—ओह ! शायद तुम्हारा मतलब वह होगा। दबाव में आकर मैंने तुम्हारे साथ विवाह अवश्य कर लिया है और ये सब बातें जानने का अधिकार तुम्हें होना ही चाहिए था। परन्तु हमारी-तुम्हारी जब पहले-पहल मुलाकात हुई थी, तभी मैंने सारी बातें साफ़-साफ़ कह दी थीं। तुमने उन्हें स्वीकार भी कर लिया था और यह निश्चित हो गया था कि पत्नी का जो अधिकार है, वह मुझसे प्राप्त करने की कामना तुम कभी न करोगी।

नवयुवती स्थिर भाव से ये बातें सुनती रही। मदनमोहन की इस बात से कि दबाव में आकर मैंने विवाह कर लिया है, उसकी

आकृति पर एक विशेष प्रकार के भाव का उदय हुआ। उसे एक साथ ही लज्जा आई, क्रोध आया और अभिमान भी हुआ। क्रोध उसे किसी दूसरे पर नहीं; केवल अपने ऊपर आया। मुँह से कोई बात न निकाल कर वह दीवट की ओर मुकी और बुझते हुए दीपक की बत्ती बढ़ाने लगी। परन्तु उसके कम्पित अधर पर जो ज़रा-सा स्फुरण आ गया था और नेत्र-पल्लव जो अकस्मात् झुक गया, उसकी ओर मदनमोहन की दृष्टि पहुँचे बिना नहीं रह सकी।

मदनमोहन कुछ क्षण तक चुप था। कदाचित् उसकी आकृति पर भी द्विविधा का एक प्रकार का भाव जाग्रत् हो रहा था। किन्तु तुरन्त ही उसको दूर करके ज़रा-सा मुस्कराते हुए उसने कहा—अप्रसन्न हो गई हो क्या? क्यों मनोरमा, हमारे-तुम्हारे बीच में कोई ऐसा सम्बन्ध तो है नहीं कि हम दोनों में से कोई किसी पर क्रुद्ध हो या किसी प्रकार का अभिमान करे। तुम्हें स्मरण होगा कि सोहागरात के ही दिन ये सारी बातें हमने तुमसे स्पष्ट रूप से बता दी थीं!

ज़रा से विराम के बाद मदनमोहन फिर कहने लगा—माता-पिता की मृत्यु के बाद दीदी ने ही मेरा पालन-पोषण किया, मुझे पढ़ाया-लिखाया और मनुष्य बनाया। इससे संसार में दीदी के सिवा और किसी से मैंने कभी स्नेह नहीं किया। उनके सिवा मेरा अपना और कोई है नहीं। उनकी एकान्त इच्छा के कारण मुझे विवाह करने पर बाध्य होना पड़ा है। दीदी की धारणा थी कि विवाह हो जाने के बाद कदाचित् मेरे जीवन में संयम का भाव आ जायगा, मैं बहुत कुछ अपने जीवन की गति परिवर्तित कर लूँगा। परन्तु मैं इस प्रकार के स्वभाव का आदमी तो हूँ नहीं कि एक क्षुद्र बालिका का हाथ पकड़कर उसी के अञ्चल में अपने आपको आजन्म बाँध रखूँ और संसार की जितनी भी आकांक्षाएँ हैं, उन सबको तिलाञ्जलि दे दूँ। इसी लिए मुझे कभी विवाह करने की इच्छा नहीं हुई। अन्त में तुम्हारे पिता के अत्यधिक आग्रह तथा दीदी के दबाव के कारण जब विवाह करने के लिए बाध्य

ही होना पड़ा तब सोचा कि चलो जीवन में होनेवाली कितनी ही घटनाओं के समान यह भी एक घटना है। तुम्हारे निर्धन पिता जैसे-कौड़ी की चिन्ता के बिना कन्या के विवाह के उत्तरदायित्व से मुक्त हो गये और दीदी की बहू ले आने की आकांक्षा पूर्ण हो गई। बस, अब रहा क्या ? तुम भी खूब आराम से खाओ-पियो, घर-गृहस्थी का काम देखो। मैं यदि स्वाधीन भाव से ही रहता हूँ तो इसमें किसी की कोई हानि नहीं है। दुर्व्यवहार तो मैं किसी प्रकार का तुम्हारे साथ करता नहीं हूँ। एक मित्र के रूप में कभी-कभी हम दोनों की मुलाकात भी हो जाती है। कहो, अब और क्या रहा ? अच्छा, तो अब दीदी से कह दोगी न ? परन्तु यह जानने की यदि तुम्हें उत्कट इच्छा है तो तुमसे बता भी सकता हूँ। अपने मित्र को भला मैं कभी किसी प्रकार का क्लेश दे सकता हूँ ? इस बार मैं सदा की भाँति मित्रों के साथ सैर-सपाटे के लिए कहीं नहीं जा रहा हूँ। मैं जा रहा हूँ मनोहरपुर, मामा के यहाँ। पत्र लिखकर उन्होंने मुझे बुलाया है। पता नहीं क्या काम है ? विलम्ब करना ठीक नहीं है; क्योंकि आज साँझ को उनका एक तार भी आया है।

ये बातें समाप्त करके सीटी बजाता हुआ मदनमोहन प्रसन्न भाव से चलता हुआ। अधिक समय तक गम्भीर भाव से रहने का उसका अभ्यास नहीं था। उसके चले जाने के बाद मनोरमा ने दीपक के ऊपर अपनी दृष्टि उठाई। अभी तक वह बिलकुल ही ध्यानावस्थित होकर दीपक की ही ओर ताक रही थी। घृणा और लज्जा के मारे उसका सारा मुखमण्डल उस समय भी लाल हो उठा था। अभी-अभी उसकी अन्तरात्मा पर अपमान का जो बड़े जोर का आघात लगा था, उसकी असह्य वेदना को एक निःस्वास में निकालकर उसने द्वार बन्द कर लिया। अपने प्रति भी उसे बहुत अधिक ग्लानि हुई। उसने सोचा, छिः ! ऐसी हूँ मैं ? मेरे हृदय में क्या ज़रा भी आत्मसम्मान का भाव नहीं है ? अपने मुखमण्डल पर मैंने क्यों उस प्रकार के भाव की छाया उदय होने दी ? अब खूब सावधानी से रहना होगा, जिससे फिर कभी इस प्रकार की

दशा को न प्राप्त होना पड़े। मेरे निर्धन पिता को कन्या के विवाह के उत्तर-दायित्व से मुक्ति मिल गई, यही मेरे लिए बहुत है। कम से कम मेरा कुमारी नाम तो हट गया। इसके अतिरिक्त मुझे और किसी प्रकार की कामना न करनी चाहिए। अन्त में दीपक बुझाकर मनोरमा ने द्वार बन्द कर लिया। और शय्या का आश्रय ग्रहण करके चिन्तित-भाव से निद्रा की प्रतीक्षा करने लगी।

मदनमोहन सदा से ही एक मौजी आदमी रहा है। दीदी का कठोर शासन उसकी उच्छृङ्खल मनोवृत्ति को निवृत्त करने में समर्थ नहीं हो सका। शिक्षा उसने ग्रहण की थी अवश्य; किन्तु अनुकूल अवसर होने पर भी उसने कभी किसी काम-काज में हाथ नहीं लगाया। विद्यार्थी-मण्डल में यों तो प्रायः सुवक्ता के रूप में भी वह ख्याति प्राप्त कर चला था। अँगरेज़ी के एक पत्र में उसका एक लेख भी प्रकाशित हुआ था; किन्तु इन दिशाओं में इतने ही से उसने सन्तोष कर लिया था। इसके बाद किसी उत्तम कार्य में हाथ लगाते हुए उसे किसी ने कभी नहीं देखा। रात्रि का अधिक भाग वह कभी अपने यहाँ और कभी किसी दूसरे के यहाँ नाच देखने में व्यतीत किया करता और दिन में प्रायः सोता रहता। इसी प्रकार उसका समय व्यतीत हो रहा था।

दीदी उमादेवी आरम्भ से ही कठोर शासन के द्वारा भाई का पालन-पोषण करने तथा उसे मनुष्य बनाने का उद्योग करती आई हैं। परन्तु अब तो वह समर्थ हो चुका और उसकी अवस्था ऐसी रही नहीं कि वह इच्छा करने पर भी दीदी के हाथ से अपनी बागडोर न छुड़ा पाता। ऐसी दशा में मन्त्र-बल के कारण शक्ति-रहित हो गये सर्प के समान वे मन के निरर्थक असन्तोष से प्रेरित होकर फुफकार रही थीं। ऐसे अवसर पर भाई के विवाह के निमित्त विचारार्थ उपस्थित की गई कितनी कन्याओं को परीक्षा में अनुत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने मनोरमा के पिता की विनीत प्रार्थना स्वीकार कर ली। फलतः शुभ या अशुभ लग्न में नव-वधू के रूप में उसने इस घर में प्रवेश किया। परन्तु मदनमोहन की स्वाभाविक उच्छृङ्खलता ने उसे गृहवासी नहीं

होने दिया। सोहागरात को ही उसने स्थिति स्पष्ट कर दी और बोला कि गहना-कपड़ा तुम जो कुछ माँगोगी, शक्ति भर मैं वह सब देने में कभी आनाकानी न करूँगा। परन्तु देखना, मेरा हृदय तुम कभी मत माँग बैठना। मुझे तुम इसी प्रकार निर्द्वन्द्व होकर घूमने देना। स्वीकार है न तुम्हें मेरी यह शर्त ?

नव-वधू नितान्त बालिका नहीं थी। स्वामी के इस प्रथम सम्भाषण ने उसे चमत्कृत किया था। परन्तु निर्धन माता-पिता की गोद में जन्म ग्रहण करके भी वह बहुत ही स्वाभिमानप्रिय थी। पति की बातों से उसके स्त्रीत्व की मर्यादा पर जो आघात पहुँचा, उसके कारण अभिमान में आकर दृढ़तापूर्वक मस्तक हिलाकर उसने प्रकट किया कि आपकी शर्त मुझे पूर्ण रूप से स्वीकार है।

इस प्रकार की कठोर शर्त के साथ वयोवृद्धा ननंद उमादेवी के नियन्त्रण में रहकर मनोरमा ने इस गृहस्थी का कार्य-सञ्चालन करना आरम्भ किया। इस हृदयहीन शर्त से उसके हृदय पर चाहे कितना ही अधिक आघात क्यों न पहुँचा हो; किन्तु ऐसा कोई भी भाव उसने व्यक्त नहीं होने दिया, जिससे कि उसके हृदय की वास्तविक अवस्था का पता किसी को चल पाता। उसके प्रति भाई के उपेक्षा-भाव का उमादेवी ने पहले-पहल स्वागत ही किया। उनके मन में यही बात आई कि मेरे प्रति समुचित श्रद्धा और सम्मान का भाव हृदय में बना रखने के ही लिए मदनमोहन पत्नी की ओर अधिक आसक्त नहीं हो रहा है। इससे भाई के इस गुण की गली-गली प्रशंसा भी वे करने लगीं। परन्तु पति के प्रेम से वञ्चित, मनोरमा के प्रति उन्होंने भी कभी स्नेह की दृष्टि नहीं फेरी। इसका परिणाम यह हुआ कि घर में कुल-कमला का स्थान न प्राप्त करके मनोरमा केवल ननंद की ही नहीं, बल्कि उनकी मुँहलगी नौकरानियों तक की सेविका के ही आसन पर उपेक्षित भाव से पड़ी रही।

मदनमोहन और मनोरमा, ये दोनों ही अपनी अपनी दिशा में बहुत आगे बढ़े हुए थे। मदनमोहन जहाँ उच्छ्वलता की पराकाष्ठा

पर पहुँचा हुआ था वहीं मनोरमा को मर्यादा का अत्यधिक ध्यान था। धैर्य और कोमलता की वह आधार थी। स्वामी के प्रति भी उसके हृदय में श्रद्धा और प्रेम का वैसा अभाव नहीं था, यद्यपि स्वामी से लेशमात्र भी प्रेम प्राप्त करने की उसे आशा नहीं थी। अपने स्वभाव की असाधारण गम्भीरता तथा सहिष्णुता के ही कारण मनोरमा ने एक वर्ष से अधिक का समय नितान्त उपेक्षामय अवस्था में रहकर भी शान्तिपूर्वक ही व्यतीत किया। पिता को इस बात का आभास तक नहीं होने दिया कि मनोरमा की वास्तविक स्थिति वैसी नहीं है जैसी कि एक प्रतिष्ठित कुल की बधू की हुआ करती है।

नवाँ परिच्छेद

देवनाथ को मन्दिर का परित्याग किये काफ़ी दिन व्यतीत हो गये । मन्दिर में अब किसी प्रकार की अशान्ति, किसी प्रकार का विप्लव नहीं रहा । स्वर्गीय वैयाकरण-केशरी महोदय के समय की ही तरह धूम-धाम से पूजा-आरती होने लगी । प्रभा अब निश्चिन्त हृदय से ठाकुर जी के लिए फूलों के हार गुँथती, फूलों के गुच्छों से मन्दिर को सजाती और नया पुजारी आद्याप्रसाद राशि के राशि फूल देव-विग्रह के ऊपर लादकर भी फूलों की माँग बराबर बढ़ता ही जाता । इससे प्रभा का चित्त प्रसन्न हो उठता । इधर प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्री प्रभा को प्रसन्न देखकर ज़मींदार द्वारकानाथ तथा उनकी सहधर्मिणी ललितादेवी भी खूब प्रसन्न थीं । परन्तु इन सबकी अपेक्षा भी अधिक सुखी हुई थी आद्याप्रसाद की भौजाई तुलसीदेवी अपने इन दूर के सम्पर्क के दम्भी देवर के खाऊवीर दल के स्वागत-सत्कार के भार से मुक्ति पा जाने के कारण । इस प्रकार एक निरीह युवक के बहिष्कृत हो जाने के कारण एक साथ इतने आदमियों ने अपनी खोई हुई शान्ति प्राप्त की, यह क्या कोई साधारण सुख की बात थी ?

इस परिवर्तनशील संसार में प्रकृति की प्रेरणा से पुराने के स्थान की पूर्ति नये के द्वारा बराबर होती रहती है और पुराने की स्मृति भर रह जाती है । परन्तु जो स्मृति किसी प्रकार के अत्यन्त हृदय-विदारक दुःख अथवा हृदय को पूर्णरूप से विकसित कर देनेवाले सुख से सम्बद्ध है, केवल वही सबसे अधिक उज्ज्वल, सबसे अधिक प्रकाशमान रह जाती है । उसके अतिरिक्त स्मृति के और जो साधारण आकार के कण होते हैं, वे शरद्-ऋतु के अत्यन्त प्रातःकाल के हिम-कणों के समान ही नवीन रवि की किरणों का सम्पात होने पर नष्ट हो जाते हैं । देवनाथ

का मन्दिर में जो थोड़े दिनों तक अधिकार था, उस बीच में कोई ऐसी महत्त्व की घटना नहीं हुई थी जो नियमपालन में पटु इस नये पुजारी के एकच्छत्र शासन के समय भी किसी के हृदय में स्थान बनाये रह सकती। पाठशाला में भी आद्याप्रसाद को धाक थी। हरिशरण के अतिरिक्त देवनाथ को स्मरण करनेवाला वहाँ प्रायः कोई था नहीं। जिस दिन जिस किसी पर गुरु-सेवा का भार आ पड़ता, वह अवश्य देवनाथ का गुणगान किये बिना न रहता, यद्यपि आद्याप्रसाद के आतङ्क के कारण यह सत्कर्म उसे अत्यन्त गुप्त रूप से ही करना पड़ता।

इस प्रकार देवनाथ के चले जाने के बाद कुछ दिन तक मन्दिर तथा पाठशाला का काम सुव्यवस्थित रूप से चलता रहा। सभी लोग शान्त थे, सभी लोग प्रसन्न थे। परन्तु विधाता कुछ ही इने-गिने परम सौभाग्य-शाली व्यक्तियों के मस्तक में ऐसी रेखा खींचते हैं जो आजन्म शान्ति-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। अतुलित ऐश्वर्य के अधिकारी पिता की आँखों की तारा आन्तरिक श्रद्धा के साथ देवता की सेवा-पूजा में तन्मय रहनेवाली प्रभा भी उन सौभाग्यशालियों में नहीं थी। जो अशान्ति इतने दिनों तक केवल द्वारकानाथ तथा ललितादेवी को भीतर ही भीतर जला रही थी, वह अब प्रकट होकर प्रभा की ओर भी अपनी लपलपाती हुई लपटें बढ़ाने लगी। एक दिन अकस्मात् प्रभा ने सुना कि एक मास के बाद उसका विवाह होगा। इस संवाद से प्रभा स्तम्भित हो उठी। पहले तो वह वज्र का-सा आघात पाकर बड़ी देर तक अचेत-सी होकर पड़ी रही, बाद को किसी प्रकार अपने आपको सँभाल कर रोती-रोती मा के पास गई और कहने लगी—मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि इस जन्म में मैं विवाह न करूँगी।

माता के समझाने-बुझाने का प्रभा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दुःखी भाव से भीतर घुसकर उसने द्वार बन्द कर लिया। उसके ज़रा-सा मचलते ही माता-पिता सदा अपने कठिन से कठिन निश्चय का परित्याग कर देने में कभी आना-कानी नहीं किया करते थे। परन्तु इस

विषय के निश्चय का परित्याग करना उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। इससे वे स्वभावतः उसकी उपेक्षा करने के लिए बाध्य थे। पत्नी से कन्या के विद्रोह का संवाद पाकर द्वारकानाथ ने प्रभा को बुलाया और उसके दिवंगत पितामह ने दान-पत्र के द्वारा जो व्यवस्था की थी, वह विस्तारपूर्वक उसे समझाकर कहा—बेटी, तुम अब बच्ची नहीं हो, हित-अहित समझने की योग्यता तुममें है। इसलिए अब तुम स्वयं इस बात का निर्णय करो कि हमारे लिए इस सारे धन-विभव, मान-मर्यादा, यहाँ तक कि पिता-पितामह के घर तक का परित्याग करके तुम्हारी प्रतिज्ञा की रक्षा करना उचित है? पिता जी तो मेरे हाथ-पैर बाँध गये हैं। इस विषय में मुझे लेशमात्र भी स्वतन्त्रता नहीं रह गई है। अन्यथा क्या मैं तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल कभी कोई कार्य कर सकता था ?

प्रभा के सामने एक बड़ी कठिन समस्या खड़ी हो गई। एक ओर तो इतना बड़ा ऐश्वर्य, और उससे भी कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु वह देव-मन्दिर था, जो कि उसकी दृष्टि में हृदय के शोणित के समान था, प्राणों से भी अधिक प्रिय था, दूसरी ओर देवता के निमित्त उत्सर्ग किये गये हृदय को किसी एक क्षुद्र मनुष्य को समर्पित कर देने की बात थी। वह सोचने लगी कि मैंने अपना यह जीवन, यह यौवन, श्रीकृष्ण को समर्पित कर रखा था ! तो क्या आज इसे एक मनुष्य के उपभोग की वस्तु इसलिए बना देना होगा कि हमारा शैशवकाल से लेकर आज तक जिस स्थान पर हमने निवास किया हो उस पर खड़ी होने की अधिकारिणी हो सकूँ ? पिता की इस मान-मर्यादा तथा उनके धन-विभव की रक्षा करनी होगी मुझे आत्म-विक्रय करके ? अन्यथा मेरे ही कारण वंश-परम्परा से आई हुई प्रतिपत्ति से वे वञ्चित हो जायेंगे ? हा पितामह जी ! आपका मेरे प्रति जो अग्राध स्नेह था उसके प्रतिदान के लिए आपने इतना कठोर विधान कर दिया है ?

आकाश-पाताल की कितनी बातें सोचने के बाद प्रभा काफ़ी देर

तक रोती रही। अन्त में उसने निश्चय किया कि इतना भयभीत होने की कौन-सी बात है ? इस धन-विभव का एक चिथड़े के समान परित्याग कर देना भी अच्छा ही होगा; किन्तु यह शरीर किसी मनुष्य को समर्पित करना मेरे लिए कल्याणकर न होगा। न, कभी नहीं ! इस भूमण्डल में तीन ही तो ऐसे मनुष्य हुए हैं, जिनकी मैंने वश्यता स्वीकार की है। उनमें से दो हैं मेरे माता-पिता और तीसरे वे हैं जो आज स्वर्ग में विराजमान हैं। क्या चौथा भी कोई ऐसा व्यक्ति इस धराधाम में अवतीर्ण हुआ है, जो हम लोगों के बीच में खड़ा होने का अधिकारी हो सके ? नहीं, यह कदापि सम्भव नहीं है। मैं किसी भी चौथे आदमी के सामने मस्तक न झुकाऊँगी।

इसी प्रकार की कितनी ही बातों पर विचार करने के बाद प्रभा की कल्पना-रूपी दृष्टि माता-पिता की भावी अवस्था पर गई। वह सोचने लगी—यह एक महीने का समय व्यतीत हो जाने के बाद हमारा यह पवित्र घर, जो कि पिता-पितामह की जन्म-मृत्यु की लीला से पूर्ण है, एक ऐसे आदमी के अधिकार में आ जायगा, जिसका कि कभी नाम तक सुनने में नहीं आया। और मेरे माता-पिता ! वे कहीं किसी एक अपरिचित नगर के किसी कोने में किराये का एक मकान लेकर एक साधारण गृहस्थ के रूप में निवास करेंगे। कितना क्लेशमय हो जायगा पिता जी का वह जीवन ! अपने मन को रास्ते पर लाने का प्रयत्न करती हुई वह सोचने लगी—नहीं, जीते जी पिता जी की इस प्रकार की दुरवस्था तो मुझसे देखी न जायगी। परन्तु अब करूँ तो क्या करूँ ?

मदनमोहन मनोहरपुर में आ पहुँचा था। दिवंगत गृहस्वामी के जीवन-काल में दो-एक बार पहले भी वह यहाँ आ चुका था, इससे वह थोड़ा-बहुत सभी को पहचानता था। प्रभा को देखते ही उसने कहा—कहो मामी, राधा तो अब काफ़ी बड़ी हो गई है, इसका कहीं विवाह आदि अभी तक नहीं ठीक किया है ? इतनी अवस्था तक कन्या को कुमारी रखना तो तुम्हारी कुल-मर्यादा के विरुद्ध है।

एक लम्बी साँस लेकर ललिता देवी ने कहा—इसी विषय में कुछ सत्यरामर्श करने के लिए तुम्हें बुलाया है बेटा ! हमारी उत्कट इच्छा है कि हमारी प्रभा को स्वीकार करके तुम हमारा उद्धार करो । अभी-अभी जो लग्न आवेगी, उसी में इस शुभ कार्य से हमें निवृत्त हो जाना है । इसलिए बेटा, यदि तुमने मेरा यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया तो हम लोग बड़े सङ्कट में पड़ जायेंगे ।

एकाएक ललिता देवी के मुँह से इस प्रकार की बात सुन कर मदनमोहन चकित हो गया । उसने विस्मित भाव से कहा—यह कैसी बात कह रही हो मामी ! मेरे साथ राधा का विवाह ! मैं तो आवारा हूँ मामी ! जिसकी दृष्टि में कन्या का कोई मूल्य नहीं है, कन्या को मारकर कुएँ में डाल देने पर भी जिसके हृदय को क्लेश नहीं हो सकता, केवल वही मेरे-जैसे आदमी के साथ अपनी कन्या का विवाह करने की इच्छा कर सकता है । तुम्हें कौन-सी ऐसी आपदा पड़ी है मामी, जो मेरे-जैसे उच्छृङ्खल आदमी के गले में अपनी प्राणों से अधिक प्यारी पुत्री को बाँधना चाहती हो ? इसके सिवा यह सम्बन्ध शोभाजनक भी न होगा । राम, राम ! जहाँ मैं आज भाज्जा हूँ तुम्हारा, वहीं कल दामाद बन जाऊँ ? बिलकुल साहवी ढंग ? भाई-बहन का विवाह ! अरे राम ! जिस राधा को मैं पीठ पर लेकर कितनी बार घूमा हूँ, वहाँ घूँघट खींचकर दुलहिन बन जायगी मेरे सामने ?

मदनमोहन की इन बातों से बहुत ही अधीर होकर ललिता देवी ने कहा—आपदा इस समय बेटा हम लोगों के ऊपर बहुत बड़ी है । इतना धन-विभव होने पर भी इस समय कन्या के विवाह की चिन्ता के कारण नितान्त ही अभावग्रस्त व्यक्तियों की अपेक्षा भी हम लोग अधिक दुःखी हैं । इसके सिवा बेटा, तुम यह जो सम्बन्ध की बात कह रहे हो, हम लोगों का तो यह बहुत दूर का सम्बन्ध है । पंक्तिपावनों के यहाँ इस तरह का विचार करने में भला कहीं निर्वाह हो सकता है बेटा ? पंक्तिपावनों के सम्बन्ध का क्षेत्र कितना सङ्कीर्ण है । हमारी

यह बात ठालो न बेठा ! मैं जाकर उनसे कहे आती हूँ । वे चिन्ता से कितने अधीर हैं ! इतना कह कर ललिता देवी उठ गई । तब मन ही मन हँसता हुआ मदनमोहन प्रभा के कमरे की ओर चला ।

प्रभा उस समय अपनी सखी तुलसी के ऊपर खीम रही थी । प्रभा के विवाह का यह जो आयोजन हो रहा था, उसका कुछ-कुछ पता एक दासी से तुलसी को चल गया था । इसी लिए इस बात को निश्चित रूप से जानकर अपना कौतूहल निवृत्त करने के विचार से तुलसी प्रभा के पास आई थी और उसके साथ विनोद करने के विचार से वह गुन-गुनाकर एक गीत गाने लगी । परन्तु प्रभा की मानसिक अवस्था तो ऐसी थी नहीं कि वह सखी के विनोद में योगदान कर पाती ! उसने तुलसी का मुँह दबा लिया और ज़रा तैश में आकर बोली—चुप रह मुँह-जली, मुझे तेरे ये गीत नहीं अच्छे मालूम पड़ते । तुझे तो मदा मज़ाक ही सूझता रहता है । यहाँ मैं मरी जा रही हूँ; तू बैठी है गीत गाने !

तुलसी ने कहा—तू यह कैसी बात कह रही है सखी ? ऐसे समय में मज़ाक न सूझेगा तो फिर कब सूझेगा भाई ? अच्छा, ज़रा बताओ तो कि विवाह के लिए कौन-सा दिन स्थिर हुआ है ? या शायद अभी दिन नहीं स्थिर हुआ ?

प्रभा और तुलसी की यह बातचीत समाप्त भी न हो पाई थी कि मदनमोहन ने निस्सङ्कोच भाव से कमरे में प्रवेश किया । तुलसी घूँघट खींचकर एक बगल खड़ी हो गई और प्रभा ऐसे अवसर पर इन अर्द्ध-परिचित महानुभाव के आगमन से उद्विग्नता का अनुभव करती हुई भी शिष्टाचार की रक्षा के लिए मदनमोहन की ओर ध्यान देने के लिए विवश हुई ।

कमरे में आसन ग्रहण करके मदनमोहन चारों ओर दृष्टि दौड़ाने लगा । बाद को प्रशंसासूचक स्वर में उसने कहा—वाह ! कैसे उत्तम ढङ्ग से कमरा सजा रक्खा है तुमने ! बाहर खिड़की के पास जो लतायें लगी हुई हैं वे खिले हुए फूलों को अपने वक्ष पर धारण किये हुए भीतर

प्रवेश करने की चेष्टा कर रही हैं, इससे यह कमरा और भी सुन्दर मालूम पड़ रहा है। परन्तु प्रभा, विवाह हो जाने पर तुम जब ससुराल चली जाओगी तब इन सबका क्या हाल होगा ?

कण्ठ से लेकर ललाट तक को अभीर के से रङ्ग से रङ्गे हुए प्रभा ने मस्तक उठाकर तड़ाक से उत्तर दिया—मैं यमराज को छोड़कर और किसी के घर न जाऊँगी।

मदनमोहन प्रभा की ओर ताकता हुआ कौतुक के साथ मुस्करा रहा था। इस तरह का गर्व-पूर्ण उत्तर सुनकर अत्यन्त ही विस्मय का भाव प्रकट करता हुआ वह बोल उठा—विवाह होने पर वे लोग तुम्हें ले गये बिना कभी मानेंगे भला ?

“तब विवाह ही न होगा।”—मुँह से यह बात भी वैसे ही धड़ल्ले से निकली।

“मामा-मामी यह बात कभी सुनने को हैं ?”

“वाह ! भला सुनंगे क्यों नहीं ?”—इस उत्तर के साथ ही साथ प्रभा के अधर पर दृढ़ प्रतिज्ञा की एक कठोर हँसी प्रकट हो आई। उस हँसी के द्वारा प्रभा मानो यह प्रकट कर रही थी कि तुम न तो मुझे पहचानते हो और न अपने मामा-मामी को पहचानते हो, इसी लिए इस प्रकार का सन्देह प्रकट कर रहे हो।

इसके बाद कुछ क्षण तक नीरव रहकर वे दोनों ही एकाएक खिल-खिलाकर हँस पड़े। प्रभा के हृदय में हँसी के स्थान पर क्रोध का ही भाव अधिक मात्रा में उत्पन्न हो रहा था; किन्तु उसका दमन करने के ही उद्देश्य से उसने मदनमोहन की हँसी में योगदान किया था। प्रभा का हृदय तो इधर कई दिनों से ज्वालामुखी पर्वत के समान धधक रहा था।

एकाएक मदनमोहन बोल उठा—तब तो तुम्हारा विवाह हो चुका राधा ! लोग विवाह करते हैं गृहिणी प्राप्त करने के लिए। ऐसा भी कोई नितान्त मूर्ख होगा संसार में, जो विवाह करके स्त्री को घर न ले जाना चाहेगा ?

घोर अविश्वास की हँसी हँसकर प्रभा कहने लगी—ऐसे मूर्ख संसार में बहुत पड़े हैं जी, बहुत पड़े हैं ! अच्छा मदन भाई, क्या तुम्हारा विवाह हुआ है ?

मदनमोहन ने कहा—मान लो कि हुआ ही है । यदि मैं किसी के साथ विवाह करके उसके साथ पत्नी का-सा सम्बन्ध न स्थापित करूँ; बल्कि उसे मित्र-भाव से रखूँ, तब वह मेरी कौन होगी ? पत्नी होगी या मित्र होगी ? इसके सिवा कौन यह कहेगा कि मेरे साथ उसका विवाह नहीं हुआ है ?

प्रभा को मानाँ डूबते को तिनके का सहारा मिल गया । वह मन ही मन सोचने लगी—विवाह करना यदि अनिवार्य ही हो, तो ऐसी ही शर्त पर किया जाय । अन्यथा मुझसे तो इस जन्म में दूसरे की दासी बन कर न रहा जायगा । परन्तु स्त्रियों के लिए तो विवाह करने का अर्थ ही है पति की दासी बन जाना । इसी लिए तो विवाह से मुझे विरक्ति हो गई है !

दसवाँ परिच्छेद

विवाह करने का अर्थ चाहे दासी बनना हो या और ही कुछ बनना हो; किन्तु प्रभा ने अनुभव कर लिया कि अब विवाह किये बिना निर्वाह नहीं है। इधर ललितादेवी ने जब देखा कि प्रभा मदनमोहन के साथ बहुत खुलकर मिला-जुला करती है, तब उन्होंने कुछ विस्मय का अनुभव किया और सोचने लगीं कि शायद इसे अभी हम लोगों के निश्चय की सूचना नहीं है। किस बहाने से इसे विवाह की बात बतलाई जाय, इसी उधेड़-बुन में वे पड़ी थीं, इतने में प्रभा स्वयं आ पहुँची और कहने लगी—मेरे लिए यदि नितान्त ही.....किन्तु इस घर के बाहर मैं कदम तक न निकालूँगी, यह अभी से बताये देती हूँ मैं तुम्हें !

ललितादेवी ने देखा कि कन्या की मति कुछ परिवर्तित हो रही है। इससे वे कुछ प्रसन्न हुईं। उन्होंने कहा—बाहर कदम निकालने को कौन कह रहा है रे पगली !

“अन्यथा विवाह ही न होगा।”

इस बात से ललितादेवी कुछ क्रुद्ध हुईं, अवश्य और सोचने लगीं कि लड़की को अधिक मुँह लगाने का यह परिणाम है कि उसके मन में जो बात आती है, आख मूँदकर उसे मान लेने के ही लिए वह हमें बाध्य करने का प्रयत्न करती है। किन्तु यह बात टालकर वे चली गईं।

दूसरे ही दिन घर में विवाह का आयोजन आरम्भ हो गया। मदन-मोहन ने तुरन्त ही यह भांप लिया। उसने मन ही मन सोचा कि माता-पिता के मस्तक पर आसन जमाकर रहनेवाली इस नवयुवती से तो दूर रहने में ही मेरा कल्याण है। इससे दोपहर को कमरे में बैठी हुई ललिता देवी जब आवश्यक वस्तुओं की सूची बना रही थीं, तब मदनमोहन ने जाकर कहा—क्षमा कीजिएगा मामी, मन नहीं गवाही देता। तुम्हारी

कन्या को छोटी बहन के ही समान सदा प्यार करते रहना मेरे लिए अच्छा होगा। वह तो लड़की क्या है, मानो एकदम से कुण्डली बनाकर बैठा हुआ सर्प है ! उसके समीप जाने में कल्याण नहीं है। परन्तु हमारे ही गोत्र का एक बहुत ही सदाचारी युवक एक संस्कृत-पाठशाला खोलने का उद्योग कर रहा है, वह प्रभा के विवाह के लिए बहुत उपयुक्त होगा।

ललितादेवी के निराशापूर्ण हृदय में फिर से आशा का सञ्चार हुआ। कुतश्चिन्तापूर्ण दृष्टि से भाँजे की ओर ताकती हुई वे बोलीं—अच्छी बात है बेटा ! तब भी हमारा उद्धार हो जायगा। उस लड़के का परिचय ?

“लड़के का नाम है देवनाथ।”

ज़रा देर तक सोच विचार करने के बाद ललितादेवी पति के पास गईं और यह चर्चा छेड़ दी। उन्होंने कहा—लड़का बुरा नहीं है। निर्धन है तो क्या ? हमारी प्रभा को ससुराल में जाकर रहना तो है नहीं। अँगरेज़ी पढ़ा-लिखा नहीं है तो न सही, संस्कृत का तो धुरन्धर विद्वान् है। उसके साथ प्रभा का विवाह कर देना ज़रा भी अनुचित न होगा। हिन्दू के घर की कन्या है; माता-पिता जिसे दान कर देंगे, उसी के प्रति वह श्रद्धा-भक्ति करेगी। कन्या ने कह दिया कि मेंमों की तरह मैं आजन्म अविवाहित रहूँगी तो क्या मान ली जायगी उसकी यह बात ?

पत्नी के इस प्रस्ताव से द्वारकानाथ ने बहुत ही अशान्ति का अनुभव किया। प्राचीन प्रथा के अनुयायी होकर भी उन्होंने योग्य से योग्य अध्यापक रखकर प्रभा के अँगरेज़ी की काफ़ी उच्च शिक्षा दी थी। ऐसी दशा में आधुनिक जगत् के सम्बन्ध में पूर्णरूप से अनभिज्ञता रखनेवाले एक ऐसे युवक के गले में उसे मढ़ देने के लिए उनका हृदय कैसे गवाही देता जो एक दिन उन्हीं का वेतन-भोगी कर्मचारी रह चुका है और समुचित रूप से कार्य का सम्पादन करने में समर्थ न हो सकने के कारण बहिष्कृत किया जा चुका है ? इससे मन ही मन वे बहुत अधीर हो उठे।

प्रभा तो देवनाथ का नाम सुनते ही आगबबूला हो उठी। अपने को सँभालने में असमर्थ होकर उसने तो मा के सामने यह बात कह

डाली कि दुनिया में जितने भी अंगड़-खंगड़ आदमी हैं, उन सभी को खोज-खोजकर निकालने पर तुम आज-कल उतारू हो गई हो। पुत्री की इस बात से अप्रसन्न होकर उसे दस बातें सुनाना ललितादेवी के लिए उस समय स्वाभाविक ही था।

मनोहरपुर के ज़मींदार-परिवार में अशान्ति ने आज-कल मानो अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित कर रक्खा था। माता-पुत्री तथा पिता, परिवार के इन तीन प्राणियों में से एक के भी चित्त में लेशमात्र भी शान्ति नहीं थी। माता ललितादेवी पति के इस स्वभाव के कारण अशान्ति का अनुभव कर रही थीं कि उन्होंने लाड़-चाव के कारण पुत्री का मिज़ाज आकाश पर चढ़ा दिया था। प्रभा उधर दृढ़-प्रतिज्ञ थी माता के निर्णय के विरुद्ध आचरण करने के लिए। द्वारकानाथ किंकर्तव्य-विमूढ़ थे। परन्तु संकट सबसे अधिक था द्वारकानाथ पर ही। ललितादेवी इस तरह अधीर होनेवाली थीं नहीं। विपत्ति का भी धैर्यपूर्वक सामना करके घटना-चक्र के आवर्त्त में अपने आपको डाल देना वे जानती थीं, इससे किसी भी अवस्था में उनके चित्त को इतना क्लेश नहीं हुआ करता था। प्रभा बात-बात में दुःखी हो जानेवाली लड़की थी। परन्तु वह अकेली ही अणुमात्र भी क्लेश सहन करने के लिए तैयार नहीं थी। क्रुद्ध होकर, रोकर, मचलकर, वह मा को भी अधीर कर देती और अपनी इच्छा उन पर लादने के लिए आकाश-पाताल एक करने में कुछ उठा न रखती। इस प्रकार अपनी मानसिक अशान्ति के मावज़े की पाई-पाई चुकाकर ही वह शान्त होती थी। परन्तु उसके पिता द्वारकानाथ में न तो गृहिणी का-सा धैर्य था और न बालिका की-सी अधीरता। एक तो ज़मींदार के पुत्र होने के कारण वे स्वभावतः आत्माभिमानि थे, दूसरे उच्च शिक्षा का उन्हें थोड़ा-सा गर्व भी था। इसलिए संकुचित होकर वे एक कोने में पड़े रहा करते थे। और ज़मींदारों की तरह वे दुर्व्यसनी भी नहीं थे कि खाने-उड़ाने या नाच-रंग के लोभ से ही दस आदमी उन्हें बराबर घेरे रहते। सुख-दुःख की बातें सुनने को ललितादेवी

के अतिरिक्त संसार में उनके और कोई मित्र नहीं था। परन्तु आजकल कन्या के कारण उनसे भी द्वारकानाथ का मनोमालिन्य हो चला था।

ललितादेवी मा थीं और कन्या के प्रति मोह में अभिभूत होना उनके लिए स्वाभाविक था। परन्तु द्वारकानाथ के हृदय में अपत्यस्नेह की मात्रा उनकी अपेक्षा सौगुना अधिक थी। इससे अन्धमोह के कारण वे ज्ञानशून्य हो उठे थे। प्रभा को अधिक से अधिक योग्य बनाने के लिए वे आरम्भ से ही प्रयत्नशील थे। पिता की इच्छा के विरुद्ध भी उन्होंने उसे अंगरेज़ी भाषा की उच्च शिक्षा दी थी और दृढ़ रूप से यह निश्चय किया था कि सर्वाङ्गपूर्ण वर प्राप्त किये बिना मैं प्रभा का विवाह कदापि न करूँगा, चाहे उसे आजन्म कुमारी ही क्यों न रहना पड़े। पुत्री को पिता के इस प्रकार के मनोभाव का आभास बराबर ही मिलता रहा है। इसमें प्रोत्साहित होकर वह एक सीढ़ी और ऊँचे चढ़ गई थी। उसने निश्चय किया कि इस अवनति के युग में कोई मेरे योग्य वर इस भूमण्डल में अवतीर्ण ही नहीं हुआ है, इसलिए मैं एक-मात्र जगत्पति गोपीवल्लभ को ही अपना पति मानकर जीवन व्यतीत करूँगी।

प्रभा केवल एक बात सोच-सोचकर कभी-कभी हँसा करती। वह मन में कहती—पिता जी का संकल्प है कि वे कभी सौत के पाले न पड़ने देंगे मुझे। परन्तु महाराणी राधिका तो बग़ल में ही खड़ी हैं इनके ! पिता जी भला कैसे पसन्द करेंगे इस प्रकार का वर ?

उस दिन पत्नी के मुँह से इस प्रकार का क्लेशकर समाचार पाकर द्वारकानाथ चिन्ता के मारे अधीर हो रहे थे। उस समय तूफ़ान के-से वेग से द्वार खोलकर उनकी दुलारी कन्या जलती हुई उत्का के समान आ पहुँची। उसने कहा—बाबू ! यह कैसी बात सुनने में आ रही है ! मुझे उठाकर आपने इस सई नदी में ही क्यों न फेंक दिया, जिससे सारा कञ्कट दूर हो जाता !

प्रभा का हृदय उस समय तपाये हुए लोहे के समान लाल होकर जल रहा था। व्याकुल दृष्टि से उसकी ओर ताकते हुए द्वारकानाथ ने कहा—

प्रभा, बेटी मेरी ! मेरे पापों का प्रायश्चित्त है यह । तेरी अपेक्षा मेरा क्या इसमें अधिक अपमान नहीं है ? मेरा दिमाग खराब हो गया है बेटी, मुझे कहीं कुछ सूझता ही नहीं है । ज़रा तुम्हीं बताओ बेटी कि मैं क्या करूँ ?

पिता के नेत्रों में जल देखते ही प्रभा अपने आपको रोक न सकी । जिस मेघ से अभी-अभी वज्रपात हो गया है, उसी को फाड़ कर चन्द्रमा उदय हो आये और वे अपनी किरणों से अमृत की वर्षा करने लगे । एकाएक प्रभा का कण्ठ-स्वर बदल गया । वह बोल उठी—बाबू जी, यदि नितान्त ही आवश्यक है, तो यही सही, किन्तु तुम भी यह प्रतिज्ञा करो कि वह यहाँ विलकुल न रह पावेगा । मैं भी जैसी हूँ, ठीक वैसी ही रहूँगी । परन्तु यह स्थान छोड़कर क्या वह सदा के लिए चला जायगा ?

यह बात सुनते ही द्वारकानाथ को एकाएक एक मार्ग दिखाई पड़ा । उन्होंने कहा—प्रभा, तुमने मेरी रक्षा कर ली बेटी । अच्छी बात है, यही मही । तो मैं उससे यही निश्चय कर लूँगा । तेरे इस परामर्श से, जहाँ तक मैं समझता हूँ, सभी को लाभ है ।

“कितनी तपस्या करने पर तुम्हारे समान पिता प्राप्त करना सम्भव होता है बाबू जी ! मुझे तुम जितना प्यार करते हो, उतना बाबा नहीं प्यार करते थे । अन्यथा वे ऐसी व्यवस्था कर जाते मेरे लिए ? परन्तु देखना, यह बात भूल न जाना बाबू जी !”

द्वारकानाथ ने जब अपने स्नेहपूर्ण नेत्र से यह देखा कि कन्या के मुख पर से व्याकुलता की कालिमा को दूर करके अकस्मात् प्रसन्नता की ज्योति उदित हो आई है, तब उन्होंने ज़रा-सी सान्त्वना प्राप्त की और विषाद के ही भाव से मुस्कराकर बोले—दूर पगली, यह क्या भूल जाने की बात है ?

मनोहरपुर के दरबार का बुलावा देवनाथ के पास शीघ्र ही पहुँच गया । आने में उसने ज़रा भी आनाकानी नहीं की । उसने सोचा, हुआ

होगा अपमान । वे मेरे मालिक हैं, अन्नदाता हैं । उन्होंने जब मुझे बुलाया है, तो जाऊँगा अवश्य । यह सोचकर वह तुरन्त ही चल पड़ा ।

चलते-चलते देवनाथ क्रमशः राजभवन के समीप आ गया । रास्ते में दो-चार परिचित आदमियों से उसकी मुलाकात हुई । किसी ने कहा—कहो छोटे परिडत, कब आना हुआ ? कोई यों ही प्रणाम करके शान्त हो गया और कोई खड़ा होकर उसके सम्बन्ध की कितनी ही आवश्यक-अनावश्यक बातें पूछने लगा । देवनाथ ने सभी को यथोचित उत्तर देकर सन्तुष्ट किया, किन्तु दरबार या आद्याप्रसाद के सम्बन्ध की कोई भी बात किसी से पूछने का साहस वह नहीं कर सका । उसके मन में यह बात आई कि कहीं कोई दुःखद समाचार न सुनने में आवे ।

मन्दिर के पास पहुँचकर देवनाथ ने भीतर की ओर पैर बढ़ाने की इच्छा की । परन्तु कुछ सोचकर वह रह गया और द्वार के पास से ही उसने देव-विग्रह के प्रणाम किया । बाद के वह ज़मींदार द्वारकानाथ से मिलने के लिए चला । वही पहले का बहुत लम्बा-चौड़ा कमरा था । उसमें बगले के पंख के समान दगदगाता हुआ बिछौना पड़ा था । बगल-बगल कतार की कतार तकिये लगे हुए थे । बीच में एक ऊँची-सी गद्दी के ऊपर ज़मींदार महोदय विराजमान थे । उसी समय देवनाथ ने पहुँचकर बहुत ही विनम्रभाव से उन्हें प्रणाम किया और वह एक ओर खड़ा हो गया ।

द्वारकानाथ के समीप देवनाथ क्या पहुँच गया, मानो उनकी साक्षात् आशा ही मनुष्य के रूप में आकर उनके सामने खड़ी हो गई । उसे देखते ही आनन्द की अधिकता के कारण द्वारकानाथ की आकृति पर एक विचित्र ही प्रकार के भाव का उदय हुआ । वे मन ही मन कहने लगे—आ गया है ? तो उसने क्रुद्ध होकर मेरा निमन्त्रण अस्वीकार नहीं किया ? आज पहले की तरह उन्होंने देवनाथ के नमस्कार की उपेक्षा नहीं की । व्यस्तभाव से वे आसन से उठे और उसकी ओर बढ़कर उन्होंने उसका हाथ पकड़ लिया ।

ज़मींदार महोदय के व्यवहार में इस प्रकार का आकाश-पाताल

का अन्तर देखकर देवनाथ तो चकित हो गया। इस प्रकार के भाव-परिवर्तन का कारण क्या हो सकता है, इस विषय पर विचार करने से पहले ही वह और भी अधिक भावविह्वल हो उठा, जब उसके भूतपूर्व आश्रयदाता ने कहा—आह, मुझे बचा लिया है तुमने। मैं तो सन्देह के मारे मरा जा रहा था।

काफ़ी देर तक चुपचाप बैठे रहने के बाद वे दोनों आदमी बहुत कुछ स्वाभाविक अवस्था में आगये। द्वारकानाथ के हृदय में उस समय भी एक बहुत बड़ा सन्देह रह गया था। वे सोच रहे थे कि कहीं प्रभा के दुर्व्यवहार को स्मरण करके देवनाथ उसके साथ विवाह करना अस्वीकार न कर दे। इधर देवनाथ के मन में एक दूसरी ही बात आ रही थी। वह सोच रहा था कि शायद आद्याप्रसाद को जवाब हो गया है, इससे पूजा का भार फिर मेरे ही ऊपर आनेवाला है। परन्तु आद्याप्रसाद को जवाब क्यों हो गया होगा, यही बात उसकी समझ में नहीं आ रही थी।

कुछ देर के बाद सङ्कोच दूर करके द्वारकानाथ ने कहा—मैंने किस लिए बुलाया है, यह कदाचित् तुम्हें अभी मालूम ही न होगा। मेरा सर्वस्व आज तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है। इसी लिए तुम्हें बुलाया है मैंने।

देवनाथ ने पूर्ण अविश्वास के साथ द्वारकानाथ की ओर ताका। द्वारकानाथ उसका यह मनोभाव ताड़ गये। उन्होंने कहा—तुम विश्वास नहीं कर पाते हो ? तुम्हीं क्या, एकाएक कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की बात का विश्वास नहीं कर सकता। परन्तु इस बात में मिथ्या का लेशमात्र भी अंश नहीं है कि तुम्हारी दया के ऊपर ही आज मेरी मान-मर्यादा तथा धन-ऐश्वर्य आदि सभी कुछ निर्भर है। खैर, तुम शान्त रहो, मैं एक-एक करके सभी बातें तुमसे बतलाऊँगा। पहले यह बतलाओ कि तुम आजकल करते क्या हो ?

देवनाथ के हृदय में सन्देह का जो भाव उत्पन्न हुआ था वह बराबर बढ़ता ही जा रहा था। यह बात किसी प्रकार भी उसकी समझ में नहीं

आ रही थी कि आज ऐसी असङ्गत घनिष्ठता मुझसे क्यों प्रकट की जा रही है ? परन्तु मालिक के इस प्रश्न के उत्तर में कोई दूसरा प्रश्न करने का साहस वह नहीं कर सका । इसलिए अपने विस्मय को मन ही मन रोककर उसने कहा—अपने एक चचेरे भाई के यहाँ आजकल मैं रहा करता हूँ । आर्थिक अवस्था उनकी भी अच्छी नहीं है । इसलिए वहाँ से शीघ्र ही अन्यत्र कहीं जाने का उद्योग करना होगा । मेरे दीक्षा-गुरु ने अभी स्वर्ग प्राप्त कर लिया है । वे इधर कुछ दिनों से आसाम में रहा करते थे और उस ओर विशेषतः कुमिल्ला तथा और दो-एक स्थानों में संस्कृत-पाठशाला खोलने का उद्योग कर रहे थे । अपने इस कार्य का भार वे मुझ पर छोड़ गये हैं । इसलिए वहाँ जाकर ज़रा देखना है कि इस विषय में कुछ किया जा सकता है या नहीं ।

“इस कार्य के लिए क्या वे कुछ सम्पत्ति छोड़ गये हैं ?”

“नाम-मात्र की । बहुत करके दान के आश्रय पर ही इस कार्य का सञ्चालन करना पड़ेगा ।”

द्वारकानाथ ज़रा-सा उत्साहित हो उठे । आग्रहपूर्वक उन्होंने कहा—बहुत ही उत्तम विचार है तुम्हारा । देश में संस्कृत का प्रचार जब तक काफ़ी न होगा तब तक देशवासी लोग समुचित ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ न हो पावेंगे । संस्कृत-भाषा साक्षात् देवभाषा है । उसमें लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन करने पर देवताओं का ठीक-ठीक हाल मालूम किया जा सकता है । अच्छा, मैं तुम्हारे कार्य के लिए वार्षिक—

ज़रा-सा हिसाब लगाकर द्वारकानाथ ने कहा—प्रायः दस-बारह हजार रुपये वार्षिक की आय का प्रबन्ध कर दूँगा ।

देवनाथ फिर उसी प्रकार विस्मयपूर्ण दृष्टि से ताकने लगा । वह सोचने लगा—यह क्या ? यहाँ क्या आज किसी नाटक का अभिनय हो रहा है ?

द्वारकानाथ कहने लगे—रुपये के बिना संसार में कुछ होता नहीं । हाथ में रुपये होने पर कितने उत्तम-उत्तम कार्य किये जा सकते हैं ।

पाठशालाओं का संचालन करने के लिए तुम्हें यदि बारह हजार रुपये वार्षिक की व्यवस्था कर दी जाय तो क्या तुम्हारा काम चल जायगा ? ज़रा सोचकर देखो तो ।

देवनाथ के सामने यह एक बहुत बड़ा प्रलोभन था । उसे ऐसा मालूम पड़ने लगा कि मानो इन बातों में मेरी भावी सफलता का चित्र अंकित है । इससे ज़रा-सा आवेग में आकर वह बोल उठा—“आप बहुत ही महान् व्यक्ति हैं !” परन्तु इसके बाद ही लज्जा के कारण उसका मुँह फिर बन्द हो गया ।

द्वारकानाथ ने ज़रा-सा मुस्करा दिया । उन्होंने कहा—किन्तु इसके बदले में तुम्हें मेरा एक बहुत बड़ा उपकार करना होगा । तुम्हें राधा-रानी के साथ विवाह करना होगा । उन्होंने पिता के विल का पूरा विवरण देवनाथ को बतलाया और कहा कि एकमात्र तुम्हारी ही कृपा के बल पर एक सप्ताह के बाद भी इस घर में पैर रखने का अधिकार हमें रह सकेगा । अन्यथा आज के आठवें ही दिन इस घर और इस सम्पत्ति पर दूसरे का अधिकार हो जायगा । मन्दिर की सेवा-पूजा की व्यवस्था तक के अधिकारी हम न रह सकेंगे ।

देवनाथ विस्मितभाव से द्वारकानाथ की ओर ताकता रहा । वह मुँह से कोई शब्द न निकाल सका ।

द्वारकानाथ देवनाथ के मन का भाव ताड़ गये । उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ऐश्वर्य के मोह से मैं कितना गिरा रहा हूँ अपने आपको । जो कार्य मैं करने जा रहा हूँ, उसमें असङ्गति की मात्रा इतनी अधिक है कि सुनकर एकाएक कोई विश्वास न कर सकेगा । किन्तु इसे मुझे कार्यरूप में परिणत करना ही पड़ेगा । इससे उन्होंने आग्रह-पूर्ण स्वर से कहा—मेरी यह बात तुम्हें स्वीकार करनी ही पड़ेगी देवनाथ, अन्यथा मेरा सर्वस्व चला जायगा ।

देवनाथ पहले की ही तरह विस्मय-पूर्ण दृष्टि से ताकता रहा, बाद

को मुँह नीचा करके धीमे स्वर से उसने उत्तर दिया—मुझे क्षमा कीजिए, मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करने में समर्थ न हो पाऊँगा ।

“इसमें अममर्थ होने की कौन-सी बात है देवनाथ ?”

द्वारकानाथ का कण्ठ-स्वर निराशा की जिस वेदना से पूर्ण था, उसके कारण देवनाथ के हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा । परन्तु किम प्रकार वह ऐसा उत्तर दे सके, जिससे कि द्वारकानाथ के मन को सन्तोष हो, यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था । राधारानी के साथ विवाह करने को जो वह तैयार नहीं हो रहा था, उसका केवल एक कारण तो था नहीं । इससे मुँह से कोई भी बात न निकालकर वह चिन्तितभाव से ताकता ही रह गया । कुछ क्षण तक व्याकुलभाव से प्रतीक्षा करने के बाद द्वारकानाथ ने फिर उसी प्रकार उद्वेगमय स्वर में कहा—कौन-सा ऐसा कारण है देवनाथ ? किसलिए तुम मेरा यह प्रस्ताव अस्वीकार कर रहे हो ?

द्वारकानाथ का प्रस्ताव स्वीकार करने में देवनाथ के सामने जो मुख्य बाधाएँ थीं, उन्हें प्रकट करने का साहस वह न कर सका । एक बहुत ही साधारण कारण का निर्देश करते हुए उसने कहा—मैंने जो कार्य्य हाथ में ले रक्खा है, इस समय विवाह कर लेने पर उसमें बाधा पड़ेगी ।

द्वारकानाथ ने कहा—कार्य्य में बाधा पड़ने की तो कोई वैसी बात है नहीं ! बल्कि कार्य्य में तुम्हें सहायता ही मिलेगी । मेरी कन्या के साथ विवाह हो जाने पर सहायता के लिए आदमियों का तुम्हें अभाव न होगा । साल में दस-बारह हजार रुपये मैं तुम्हें दूसरों को बाँटने के लिए दूँगा । तुम्हारा निजी खर्च जो होगा, उससे कोई मतलब नहीं । इन रुपयों की सहायता से एक क्या, चार-पाँच पाठशालायें तुम आसानी से चला सकोगे ।

आशा-निराशा और असमझस के बीच में कुछ देर तक गोते लगाने के बाद ज़मींदार साहब के मुख पर अपने म्लान नेत्रों की दृष्टि स्थापित

करके धीमे स्वर में देवनाथ ने कहा—मुझे लोभ में न डालिए, यह कार्य मेरे लिए असाध्य है। और भी बहुत-सी बाधाएँ हैं जिनका उल्लेख आपके सामने मुझसे न किया जा सकेगा।

बार-बार अस्वीकार करने की ही बात ! एक बहुत ही छोटी हैसियत का पुजारी और उसके सामने द्वारकानाथ-जैसे अनुलित विभव के अधीश्वर का इस प्रकार का प्रस्ताव ! उसके लिए तो आनन्द की अधिकता के कारण नाच उठने की बात थी, क्योंकि इस प्रकार का प्रस्ताव क्या किया गया, उसके हाथ में मानो आकाश का चन्द्रमा आ गया। परन्तु ऐसा न करके वह द्वारकानाथ के प्रस्ताव को बार-बार ठुकरा कर इस प्रकार का आचरण कर रहा था, मानो वह अत्यन्त महिमाशाली राजराजेश्वर है। क्रोध और अपमान के मारे द्वारकानाथ का सारा मुख-मण्डल, ललाट से लेकर कान तक, रक्त वर्ण का हो गया। क्रोध की अधिकता के कारण एक कठोर वाक्य उनके कण्ठ पर आ ही रहा था, किन्तु बहुत ही शीघ्रता-पूर्वक उन्हें अपनी अवस्था का स्मरण हो आया और उसी बात को संयत करके उन्होंने कहा—विवेकहीन व्यक्ति की-सी बातें मत करो देवनाथ, प्रलोभन क्यों कहते हो मेरी इन बातों को ? तुम यह क्यों नहीं सोचते कि दामाद के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए मैं ये रुपये तुम्हें दूँगा ? तुम यह भी सोच सकते हो कि एक उत्तम कार्य के लिए मैं इतना दान दे रहा हूँ।

देवनाथ ने अपने हृदय में अत्यधिक दुर्बलता का अनुभव किया। उसने सोचा कि वास्तव में दान यह नहीं है, इस विषय में किसी प्रकार की युक्ति या तर्क उपस्थित करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। इससे और कोई युक्ति न उपस्थित करके देवनाथ ने हताशभाव से कहा—यह कार्य-भार ग्रहण करते समय गुरुदेव का नाम लेकर मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक उनके अभीष्ट कार्य में सफलता न दृष्टिगोचर होगी तब तक किसी प्रकार भी मैं उस स्थान का परित्याग न करूँगा। किन्तु वह स्थान अत्यन्त ही अस्वास्थ्यकर है। कोई वहाँ थोड़े दिनों के लिए भी साथ में

परिवार रखने का साहस नहीं कर सकता। इधर मुझे वहाँ बहुत दिनों तक रहना पड़ेगा।

द्वारकानाथ के मुखमण्डल पर रक्त की एक धारा फिर जोरों से दौड़ गई। नेत्रों के तारे मानो आग की चिनगारियों की वर्षा करने लगे। मन के उस भाव को दबा रखने के लिए होंठों को दाँतों से बड़ी देर तक दबा रखना पड़ा। उनके मन में आया, कितनी सपना है इस युवक की! ज़मींदार द्वारकानाथ की कन्या अपने निर्धन पति के साथ उस अस्वास्थ्यकर आसाम के पर्णकुटीर में निवास करने के लिए जायगी? इस अगाध सुख और सौभाग्य का परित्याग करके क्या वह उसके साथ उस सुदूर स्थान में निवास करने के लिए जायगी? पागल तो नहीं हो गया है यह?

मुस्कराहट से क्रोध और लोभ के भाव को दबाकर द्वारकानाथ ने कहा—इसके लिए तो कोई बात नहीं है। तब तक वह मेरे ही पास रहेगी। मुझे तुमसे केवल एक बात विशेष रूप से पूछनी है। पूजा में त्रुटि निकाल कर राधारानी एक बार तुम्हारी हानि का कारण बनी थी। इससे तुम्हारे मन में उसके प्रति क्रोध का भाव आना स्वाभाविक है। विवाह के बाद क्या वह बात तुम अपने हृदय से निकाल सकोगे?

यह बात देवनाथ के हृदय में जाकर वज्र में समान चुभ गई। उसके मुख पर लालिमा दौड़ गई। मस्तक उठाकर उसने कहा—इसी लिए तो मैं कह रहा था। कोई आवश्यकता नहीं है इस तरह की बात छेड़ने की; मेरे सम्बन्ध में जब आप लोगों की इस प्रकार की धारणा है।

“नहीं, कोई ऐसी बात नहीं है। तुम जब कह रहे हो तो कोई कारण नहीं है कि विश्वास न किया जाय इस बात का। मैं तुम्हें पहचानता हूँ। यह भी मुझे मालूम है कि तुम जो कुछ कहोगे, उस पर दृढ़ रहोगे। मुझे जो कुछ कहना था, वह मैं कह चुका। यदि तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो तुम विवाह मत करो। अब केवल सात दिन का समय है। उसके बाद हम लोग मार्ग के भिखारी बन जायँगे। उस समय मेरे लिए यह सम्भव ही

न रहेगा कि मैं तुम्हारी सहायता कर सकूँ। तुमसे भी मेरा कोई प्रयोजन न रहेगा। जो कुछ होना होगा, इन सात दिनों के भीतर ही होगा।

इतना कहकर एक लम्बी साँस लेने के बाद द्वारकानाथ चुप हो गये। ये बातें बहुत ही प्रभावोत्पादक थीं। देवनाथ के स्वभाव से ही कोमल हृदय को वे बड़ी देर से आन्दोलित कर रही थीं। उसने कहा—सोच-विचार करने के लिए थोड़ा-सा समय दीजिए।

“अच्छी बात है, तो कल सवेरे तुम उत्तर देना। परन्तु इस समय एक बात तुम्हें और जान लेनी है। विवाह के बाद भी मेरी कन्या मेरे ही घर में रहेगी। विवाह करने की तुम्हें कोई वैसी इच्छा तो है नहीं, केवल मेरा उपकार करने के ही विचार से तुम विवाह कर रहे हो। ऐसी दशा में इस विषय में तुम्हारे लिए आपत्ति का कोई भी कारण नहीं है। तुम जहाँ भी रहना चाहोगे, तुम्हारे लिए मकान बनवा दिया जायगा, खर्च-आदि भी पहुँचता रहेगा, किन्तु विवाह के बाद मेरी कन्या के साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। तुम दोनों ही का जीवन एक-दूसरे से स्वतन्त्र होगा। यह शर्त क्या तुम्हें स्वीकार है ?

मन में किसी प्रकार के द्विविधा को स्थान न देकर देवनाथ ने कहा—नहीं; अग्नि, देवता और ब्राह्मण को साक्षी देकर जो प्रतिज्ञा करनी होगी, वह क्या इसलिए कि विवाहमण्डप से उठते ही भुला दी जाय ? इस प्रकार मिथ्या आचरण करने के लिए पवित्र वेद-मन्त्र का उच्चारण मुझसे न किया जायगा। आप अन्नदाता हैं, पिता के समान हैं, मुझे आप इस प्रकार का आदेश न करें।

देवनाथ की ये बातें सुनते ही द्वारकानाथ विह्वल हो उठे। बड़ी देर के बाद किसी प्रकार अपने आपको सँभाल कर वे उठे और कमरे में ही टहलने लगे। देवनाथ इतनी देर तक पत्थर की मूर्ति-सा होकर उन्हीं की ओर ताक रहा था। टहलते-टहलते द्वारकानाथ आकर एकाएक उसके सामने खड़े हो गये और उसके कन्वे पर हाथ रखकर कहने लगे—देवनाथ, तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब ठीक है। परन्तु इस विषय में तुम्हें केवल इतनी

ही बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मैं इस समय विपत्ति में पड़ा हुआ हूँ। आज मैं तुमसे सहायता के लिए प्रार्थी हूँ। तुम्हारा हृदय विशाल है। क्या आज तुम दूसरे के लिए अपने दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं कर सकेगें ? तुम्हारे मन में यह धारणा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि स्त्री के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए मुझे बाध्य होना पड़ेगा। परन्तु ज़रा सोचो तो कि इससे अधिक तुम स्त्री के लिए क्या कर सकेगें ? यह इतनी विशाल सम्पत्ति उसके हाथ में तुम्हारे ही कारण तो आ सकेगी ? उसके माता-पिता की मर्यादा तुम्हारे ही कारण तो सुरक्षित रह पावेगी ? इससे क्या तुम्हारे धर्म की रक्षा नहीं होगी ?

देवनाथ बोला नहीं। वह हिला-डुला भी नहीं। काफ़ी समय तक वह द्वारकानाथ की व्याकुल दृष्टि के नीचे ठीक उसी प्रकार खड़ा रहा; बाद के उनकी ओर देखे बिना ही एकाएक सन्देह, वेदना और भय से आकुल कण्ठ से बोला—आज रात भर मुझे सोचने दीजिए।

द्वारकानाथ कुछ बोले नहीं। देवनाथ उन्हें नमस्कार करके चला गया।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

साँझ होते ही प्रभा ने देव-मन्दिर में प्रवेश किया। आरती में अभी विलम्ब था। मन्दिर में कोई था नहीं। इससे उसने बाहर का दरवाज़ा बन्द कर दिया। घुटनों के बल देव-विग्रह के सम्मुख बैठकर विह्वल भाव से वह सोचने लगी—मैं कुछ भी तो चाहती नहीं हूँ ! मेरे समीप यह जो धूप रक्खी हुई है ठीक उसी के समान अपना सर्वस्व मैंने देवता के चरणों में उत्सर्ग कर दिया है। मुझे सुख है अपने आपको पूर्ण-रूप से लय कर देने में ही। परन्तु क्या कारण है कि उस सुख से भी मैं वञ्चिता हो गई हूँ ? इतनी सार्थकता भी मुझे नहीं मिल सकी ? हे प्रभो, किस पाप से यह दण्ड मिला है मुझे ?

यन्त्रणापूर्ण तीव्र अभिमान के कारण प्रभा का हृदय पूर्ण हो उठा। देवता की ओर संकेत करके वह मन ही मन कहने लगी—जानबूझकर तो मैंने तुमसे कोई अपराध किया नहीं है, किस अज्ञात पाप के कारण तुम मुझे अपनी दासी के पद से वञ्चित करके मनुष्य-जैसे तुच्छ जीव की सेवा में नियुक्त कर रहे हो ? जानते नहीं हो कि मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी हूँ; किसी दूसरे की नहीं हो सकूँगी ?

देवता ने हँस दिया। दीपक के प्रकाश में उस स्निग्ध हँसी की छटा इस प्रकार सुशोभित होने लगी, मानो सैकड़ों सूर्य और चन्द्रमा की किरणें मन्दिर में देदीप्यमान हो रही हैं। महाप्रकृति राधा ने मुस्कराहट के साथ तिरस्कार-पूर्ण स्वर में कहा—पापिष्ठा, प्रकृति स्वयं पुरुष की दासी है। फिर तुझमें ऐसी कौन-सी बात है जिसके कारण तू स्वामिनी बनकर ही रहेगी, दासी का पद नहीं स्वीकार कर सकेगी ? तू अपने गर्व का परित्याग कर दे और जो कुछ सभी को करना पड़ता है वही तू भी करती चल।

आँखों में आँसू-भरे हुए हाथ जोड़कर देवता को लक्ष्य करके प्रभा कहने लगी—क्या तुम सुन रहे हो ? और किसी को भी मैं स्वामी के रूप में न ग्रहण कर सकूँगी । यदि तुम मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा न कर सकोगे, तो मैं स्वयं इसकी रक्षा करूँगी । यदि विवाह करना ही पड़ेगा तो कर लूँगी । परन्तु यह शरीर और हृदय जब मैंने तुम्हें दान कर दिया है, तब यह केवल तुम्हारा ही रहेगा । इन सबको छोड़कर यदि कोई केवल नाम-मात्र के लिए पति बनना स्वीकार करे तभी मैं उसके साथ विवाह करने को तैयार होऊँगी; अन्यथा मार्ग में खड़ी होने के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई उपाय नहीं है ।

देवता के मधुर अधर पर फिर अमृतमय हास्य आलोक की लीला के रूप में प्रवाहित हो गया । वह हँसी आश्वासन की थी, या अविश्वास की, यह किसी प्रकार भी समझ में न आया ।

प्रभा देव-मन्दिर में तन्मयभाव से बैठी-बैठी देवता के प्रति अपने मन की व्यथा प्रकट कर ही रही थी कि बाहर काफ़ी देर तक खड़े-खड़े बहुत कुछ सङ्कल्प-विकल्प करने के बाद देवनाथ ने सङ्कचित्तभाव से मन्दिर में प्रवेश किया और देवता को प्रणाम करके वह जा ही रहा था कि पीछे से उसके कान में आवाज़ आई—ठहरो, एक बात कहनी है तुमसे ।

देवनाथ के शरीर से मानों बिजली का तार छू गया । निस्तब्ध-भाव से वह खड़ा हो गया । परन्तु वह न तो प्रभा की ओर मुँह फेरने का साहस कर सका और न उसका मस्तक ही ऊपर की ओर उठा । प्रभा की भी अवस्था विचित्र ही थी । बड़ी कठिनाई से संयत अवस्था में आकर वह बोली—पिता जी से शायद मुलाकात हो गई है तुम्हारी ?

देवनाथ ने मस्तक हिलाकर सूचित किया—हाँ, “शायद उन्हें उत्तर भी दे दिया गया होगा ।”

अपराधी के समान देवनाथ इतना-सा हो उठा । नम्र कण्ठ से उसने कहा—नहीं, कल देने को कहा है ।

प्रभा के मुख पर घोर लालिमा छा गई । वह सोचने लगी—कल

उत्तर देने को इसने कहा है ! कल ? क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में भी कुछ सोच-विचार करना इसके लिए आवश्यक है ? क्या यह इससे कृतार्थ नहीं हो गया ?

देवनाथ पहले की ही तरह खड़ा था । चला जाऊँ या कुछ और सुनने के लिए राश्वरानी की प्रतीक्षा करूँ, यह कुछ ठीक-ठीक उसकी समझ में नहीं आ रहा था ।

प्रभा ने बड़ी कठिनाई से अपने मन का दोष दूर करके कहा—
“मुझे एक बात कहनी है ।” ज़रा-सा रुककर वह फिर बोल उठी—वह बात इसी समय कह देना आवश्यक है । पिता जी जो कुछ कह रहे हैं, वही यदि करना पड़ा तो; विवाह के दिन से ही मैं स्वतन्त्र रहना चाहती हूँ । उस दिन के बाद जीवन में फिर कभी हम लोग एक दूसरे से न मिल सकेंगे । हममें से कोई किसी की खोज-खबर भी न लेगा । यही मेरी इच्छा है ।

बत्ती के उस उजाले में देवनाथ का मुँह पीला हो उठा । इतनी कठोर शर्त के साथ क्या कोई किसी के साथ विवाह कर सकता है ? सुगन्धि के भार से आकुल मन्दिर की उस वायु से एक जोर की साँस खींचकर देवनाथ ने आर्त्त-कण्ठ से उत्तर दिया—अच्छा !

इस ‘अच्छा’ शब्द से प्रभा ने कुछ सन्तोष प्राप्त किया । उसने कहा—प्रतिज्ञा करो । इस देवमन्दिर में प्रतिज्ञा करो कि—

यह बात सुनते ही देवनाथ की धिग्धी बँध गई । उस समय भय से वह इतना विह्वल हो उठा था कि मानो उसके सामने एकाएक बिजली गिर पड़ी हो । किन्तु क्षण मात्र में ही अपने आपको सँभाल कर प्रभा की बात काटते हुए वह बोला—नहीं, समस्त शास्त्रीय अनुष्ठानों के समाप्त हो जाने के बाद से ।

प्रभा के उज्ज्वल नेत्रों में बिजली का स्फुरण हुआ । एक दिन जिस देवनाथ को अयोग्य होने का लाञ्छन लगाकर प्रभा ने निकाल दिया था और उसे ज़रा-सा मुँह तक खोलने का साहस नहीं हुआ, आज वही उसकी बात का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करने लगा । प्रभा

के मन में यह बात आई—तो क्या अभी मैं उसने अपने आपको मेरा स्वामी समझ रक्खा है ?

दाँतों से होंठ दबाकर प्रभा ने बड़े क्लेश से कहा—अच्छी बात है, वही सही । विवाह-सम्बन्धी समस्त अनुष्ठानों के समाप्त हो जाने के बाद से हम दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहेगा ।

देवनाथ ने कहा—मैंने यह शपथ कर ली ।

देवनाथ को आज इतनी स्वतन्त्रता नहीं थी कि उपेक्षित भाव से वह पाठशाला के एक कोने में पड़ा रह सके । ज़मींदार द्वारकानाथ ने उसे आराम से ठहराने तथा उसकी आवभगत करने का भार छोड़ा था अपनी रियासत के नायब के ऊपर । नायब भी व्यग्र भाव से इस बात के लिए सचेष्ट था कि मालिक के भावी जामाता को कहीं लेशमात्र भी क्लेश का अनुभव करने का अवसर न मिल सके । इसी लिए देवनाथ को बाध्य होकर मन्दिर से लौटकर रात्रि व्यतीत करने के लिए कोठी में आना पड़ा । उसके लिए जो कमरा निर्दिष्ट किया गया था उसी में बैठा हुआ वह चिन्ता-सागर में गोते लगा रहा था, इतने में आकर मदनमोहन उसे अन्तःपुर की ओर ले गया ।

भीतर के एक बरामदे में बैठी हुई गृहिणी ललितादेवी देवनाथ की प्रतीक्षा कर रही थीं । उसे देखते ही वे बहुत ही अनुनय-पूर्ण स्वर में कहने लगीं—बेटा, अब तुम्हारे अतिरिक्त हमारा उद्धार करनेवाला और कोई भी नहीं है । प्रभा बड़ी पगली लड़की है । उसकी कोई बात मन में न रखना बेटा ! उसने तुम्हारे साथ बहुत ही अनुचित व्यवहार किया है । अपने हृदय की उदारता के कारण उसकी उन सब बातों को भूलकर इस विपत्ति से हमारी रक्षा करो । यथार्थ ब्राह्मण के लड़के का यही धर्म है बेटा !

देवनाथ मुँह से कुछ बोल न सका । पत्थर की मूर्ति के समान निश्चलभाव से खड़े-खड़े ललितादेवी की बातें सुनने के बाद उन्हें प्रणाम करके वह लौट आया । इधर देवनाथ के ठहरने के लिए जो कमरा निर्दिष्ट किया गया था, उसके समीप के ही एक बरामदे में घर

के नौकर-चाकर तथा ज़मींदार द्वारकानाथ के आश्रय में रहकर आराम के दिन व्यतीत करनेवाले नातेदार-रिश्तेदार एकत्र होकर कानाफूसी कर रहे थे। उन सबका लक्ष्य देवनाथ की ही ओर था। परन्तु उस समय देवनाथ की मानसिक अवस्था ऐसी नहीं थी कि वह उन सबकी आकृति का अध्ययन करके उनके मनोभावों का पता लगाने का प्रयत्न करता। वह तो अपनी अवस्था पर विचार करने में इतना अधिक तन्मय था कि दूसरे की ओर ध्यान देने का उसे बिल्कुल अवसर ही नहीं था। विशेषतः आज दो-तीन पहर के भीतर जो-जो अनहोनी बातें उसके सामने आई थीं, वे उसे एक विचित्र पहेली-सी मालूम पड़ने लगीं।

एक निर्धन परिवार में देवनाथ का जन्म हुआ था। अत्यन्त शैशव-काल में ही माता-पिता से हीन होकर भाई-पट्टीदारों की कृपा की बदौलत वह बड़ा हुआ और जैसे ही कुछ सोचने-समझने की शक्ति उसमें आई, काशीधाम में पहुँचा। वहाँ एक दयालु पण्डित जी से उसने व्याकरण तथा वेदान्तशास्त्र का अध्ययन किया। पण्डित जी वेदान्त के सिद्धान्तों के पारदर्शी थे, परन्तु वास्तविक रूप से वेदान्तवेत्ता होने का दुर्लभ सौभाग्य सञ्चित करने में वे समर्थ नहीं हो पाये। इसी लिए साधारण श्रेणी के मनुष्यों के समान ही उनका भी हृदय बहुत ही सङ्कीर्ण था। द्वैतवाद के विरुद्ध तर्क-वितर्क उपस्थित होने पर कभी कभी तो वे प्रमाण के रूप में लट्ट चलाने तक में द्विविधा का अनुभव नहीं किया करते थे। इससे देवनाथ ने यह अनुभव किया कि अभी तक मेरी शिक्षा उपयुक्त भित्ति पर नहीं प्रतिष्ठित हो पाई है। इसलिए लौटकर गाँव आने पर वह वैयाकरण-केसरी जी के पास न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए मनोहरपुर पहुँचा, क्योंकि व्याकरण के साथ ही साथ न्याय के भी वे एक अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे। न्याय और सांख्य वेदान्त-शास्त्र के सोपान-स्वरूप हैं। इसलिए देवनाथ ने ग्राम के शान्तिपूर्ण वातावरण में रहकर वैयाकरण-केसरी जी की योग्यता से लाभ उठाने का निश्चय किया।

आकाश में अगणित नक्षत्रों के वर्त्तमान होने पर भी यदि नीचें मेघों का स्तर जम गया हो तो ऊपर का प्रकाश उस काले आवरण को भेदकर नीचे तक नहीं उतर पाता । मर्त्यलोक में बैठे हुए जरा-मरणाशील मनुष्य केवल बाहर के मेघ को ही देख पाते हैं । देवनाथ के विशाल हृदय की ओर भी ठीक उसी प्रकार जनता की दृष्टि नहीं पहुँच पाती थी । देवनाथ में पाण्डित्य था । वेदान्तशास्त्र का मर्म उसने अपने शिष्यागुरु की अपेक्षा भी अधिक समझा था । इसके सिवा वेदान्त के इस बहुत ही उत्कृष्ट सिद्धान्त-भेद का,—मनुष्य को दुःख से न तो व्याकुल होना चाहिए और न सुख की कामना करनी चाहिए, यदि पूर्ण रूप से नहीं तो आंशिक रूप से अवश्य क्रियात्मक अनुभव किया करता था । इसके सिवा देवनाथ 'सर्वे खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य का मर्म-मर्म से अनुभव किया करता था, इस कारण जगत् की समस्त वस्तुओं, समस्त प्राणियों से उसे अनुराग था । परन्तु बाहर की दीनतापूर्ण नम्रता उसके अन्तःकरण के आलोक को मेघ के समान ही ढक रखती, इससे लोगों की दृष्टि उसके हृदय के भीतर छिपे हुए अपूर्व सौन्दर्य तक नहीं पहुँच पाती थी । देवनाथ एक तो स्वभाव से ही सङ्कोचशील था, दूसरे उसके शरीर पर दरिद्रता की छाया बराबर बनी ही रहती । इसके परिणाम-स्वरूप उसे सदा नगण्य रहकर ही लोगों की उपेक्षा और अवहेलना सहन करते आना पड़ा है । संसार के युद्ध-क्षेत्र में अपना निरीह स्वभाव लिये हुए जो व्यक्ति एक ओर खड़ा रहता है, ऊँच-नीच किसी भी जीव-जगत् में सुख प्राप्त करने का अधिकारी वह नहीं हो पाता ।

देवनाथ को अपनी अवस्था के सम्बन्ध में किसी प्रकार का खेद नहीं था । माता के गर्भ से आकर भूमि में स्थान ग्रहण करने के बाद माता ने ही संसार के श्रेष्ठ सुख से उसे वञ्चित कर दिया था । तब से बराबर उपेक्षा और अवहेलना से ही अधिकतर परिचय प्राप्त करने का अवसर उसे मिला है । छुटपन में दौड़-दौड़कर दस आदमियों की आज्ञा का पालन करने के बाद भी उसे घुड़कियाँ ही सहने को मिली हैं । बाद

को विद्यार्थी के रूप में पाठशाला के श्रेष्ठ विद्यार्थियों तथा सहपाठियों की सेवा करके उसने प्राप्त किया है केवल श्लेष, विद्वेष और अवहेलना। बाद के पुजारी हो जाने पर प्रभा की डाँट-फटकार के साथ ही साथ लोगों का तिरस्कार भी उसे सहन करना पड़ा। ऐसी अवस्था में ज़मींदार द्वारकानाथ के यहाँ आज देवनाथ की जो इतनी आवभगत हो रही थी; वह उसके लिए बिलकुल नई चीज़ थी। इस प्रकार की आवभगत के साथ जीवन में उसका परिचय और कभी नहीं हुआ। इसी लिए आज वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया था।

निस्तब्ध रात्रि थी। संसार भर में कहीं एक भी प्राणी जाग रहा है, इस बात का ज़रा-सा आभास तक नहीं मिल रहा था। ऐसे समय में देवनाथ गम्भीर चिन्ता में मग्न था। द्वारकानाथ ने किस प्रकार व्याकुलता से उससे अनुरोध किया था ! ललितादेवी किस प्रकार आँखों में आँसू-भरे हुए उससे प्रार्थना कर रही थीं ! उनकी उस समय की करुण-अवस्था बार-बार स्मृति-पट पर उदित हो-होकर देवनाथ के स्वभाव से ही कोमल चित्त को उद्विग्न करने लगी। मन ही मन वह भगवान् से प्रार्थना करने लगा—नाथ, हृदय में बल दो जिससे कि कर्त्तव्य से भ्रष्ट न होऊँ। मुझे बता दो नाथ, कि ऐसे सङ्कट के समय मेरा कर्त्तव्य क्या है ?

देवनाथ के मन में कितनी बातें आईं। उसने सोचा कि ज़मींदार द्वारकानाथ का मैंने अन्न खाया है। शास्त्र के आदेश के अनुसार उनके लिए प्राण तक का उत्सर्ग करने में मुझे आना-कानी न करनी चाहिए। तब भला एक साधारण-सी बात मानने में मुझे क्यों आपत्ति होनी चाहिए ? परन्तु क्षण भर के बाद ही उसके मन में आया—यह साधारण ही बात तो बड़ी कठिन है। जिस प्रभा को देव-मन्दिर में इन्द्राणी के समान विराजमान देखकर आतङ्क के कारण मेरा शरीर एकाएक रोमाञ्चित हो उठा करता था, सम्मान के कारण दृष्टि अपने आप नीची हो जाया करती थी, उसे मैं किस प्रकार सखी, सेविका या सहधर्मिणी के रूप में देखने की कल्पना करूँ ? प्रभा के सूर्य की प्रभा के समान तेजपूर्ण नेत्रों पर भला

अपनी स्वभाव-सङ्कुचित दृष्टि कैसे स्थापित कर सकूँगा मैं ? नहीं, कदापि नहीं, यह सर्वथा असम्भव है । अन्त में चिन्ता के अगाध सागर में पड़ा हुआ देवनाथ व्याकुल दृष्टि से ताकते हुए कातर कण्ठ से प्रार्थना करने लगा—मेरा कर्त्तव्य-पथ दिखा दो नाथ, जिसमें कि मन की दुर्बलता के कारण वास्तविक बात मैं न भूल जाऊँ ।

एकाएक देवनाथ के मन में यह बात आई कि इन सात दिनों में द्वारकानाथ यदि कन्या का विवाह न कर पावेंगे तो उसके दूसरे ही दिन उन्हें अपनी समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर देना पड़ेगा । यहाँ तक कि इस देव-मन्दिर पर भी उनका अधिकार न रह जायगा । परन्तु मन्दिर प्रभा को प्राणों से भी अधिक प्रिय है और इसका परित्याग करके वह जीवित रह सकेगी, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता । ऐसी दशा में द्वारकानाथ की बातें मान लेना ही मेरा कर्त्तव्य है । विवाह के बाद प्रभा से मैं दूर ही रहूँगा, तब भी तो दरिद्रता से, अपमान से, असह्य मनोवेदना से उसकी रक्षा कर सकूँगा, सुख-सम्मान की अधिकारिणी बना सकूँगा । यह भी क्या मेरा कर्त्तव्य नहीं है ? यदि उसे या केवल उसे ही क्यों, संसार के एक भी प्राणी को सुखी करने में समर्थ हो पाऊँ, तो उस आनन्द से ही मैं क्यों वञ्चित होऊँ ? यह व्यर्थ का सङ्कोच लिये हुए हटकर एक किनारे में मेरे पड़े रहने की उपयोगिता क्या है ?

देवनाथ की चिन्ता का अन्त होने को नहीं था । रात बराबर बढ़ती जा रही थी और उसके मन में एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी शङ्कायें उत्पन्न होती ही रहीं । एकाएक उसके मन में यह बात आई कि विवाह-सम्बन्धी समस्त अनुष्ठानों के समाप्त होते ही विवाहिता का सदा के लिए परित्याग कर देना भी बड़ा ही कठिन कार्य है । देवनाथ मन ही मन कहने लगा कि स्वयं अपनी ओर से तो यह शर्त स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि विवाह के बाद प्रभा के साथ आजन्म ससुराल में ही निवास करने की शर्त यदि मेरे सामने पेश की जाती तो विवाह करने का साहस कदाचित् किसी प्रकार भी मैं न कर

सकता । परन्तु केवल अपनी सुविधा या असुविधा पर ध्यान न देकर कर्त्तव्य की ओर भी तो मुझे दृष्टि रखनी है । देव, ब्राह्मण और अग्नि को साक्षी देकर पवित्र वेद-मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रतिज्ञा तो यह करनी होगी कि हम परस्पर एक-दूसरे के सुख-दुःख और पाप-पुण्य के भागी होंगे, और मन में यह संकल्प दृढ़ किये रहेंगे कि विवाह हुआ नहीं कि हम दोनों आदमी एक-दूसरे से स्वतन्त्र हुए । यह एक बहुत बड़ा पाप है ! इस घोर पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं है ।

तरह-तरह के तर्क-वितर्क और सङ्कल्प-विकल्प में रात्रि व्यतीत हो चली । बाहर बगीचे में उपाकाल के स्निग्ध समीर से खिलकर सुरभिमय पुष्पों की कलियाँ मादकतामय सौरभ का उदार भाव से वितरण कर रही थीं । प्रातःकृत्य के लिए देवनाथ नदी-तट की ओर चल पड़ा । उसने सोचा, विवाह-मंत्र इस बात की शिक्षा देता है कि पत्नी से एक अभिन्न आत्मा के रूप में प्रेम करना चाहिए । यह तो मेरे लिए इतना असम्भव न होगा ! दूसरी बात है आजन्म भरण-पोषण का भार लेने के सम्बन्ध की । इस सम्पत्ति की रक्षा हो जाने पर आंशिक रूप से यह बात भी पूरी हो जाती है । इसका अर्थ यह है कि ज़मींदार साहब की आज्ञा के अनुसार प्रभा के साथ विवाह करके यदि इस सम्पत्ति की रक्षा कर लूँ तो यह समझना सर्वथा असङ्गत न होगा कि उसका भरण-पोषण मेरे ही कारण से हो रहा है । ऐसी दशा में हम दोनों पृथ्वी के चाहे दो विभिन्न छोरों में ही क्यों न रहें, मेरी कोई हानि न होगी । काम-काज से अवकाश मिलने पर कभी-कभी मैं पत्नी के रूप में प्रभा का ध्यान कर लिया करूँगा, साथ ही इस बात के लिए सदा सचेष्ट रहूँगा कि मन के इस भाव को कभी कोई जानने न पावे ।

देवनाथ की ही तरह उस रात्रि में ज़मींदार द्वारकानाथ महोदय को भी शान्तिमयी निद्रादेवी की गोद में आश्रय नहीं मिल सका । यह सोच-सोचकर कि आज मैं अपने व्यक्तिगत सुख के लिए अपनी प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्री की कितनी व्यथा, कितनी लज्जा का कारण बन रहा

हूँ, उनका हृदय मानो शतधा विदीर्ण होता जा रहा था। कितनी बार उनके मन में आया—अधिक अच्छा होगा कि मैं भिखारी होकर ही रहूँ, किन्तु सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लोभ से मैं प्रभा को एक दीन-हीन और नगण्य व्यक्ति के हाथ में किसी प्रकार भी न सौंप सकूँगा।

द्वारकानाथ का उपर्युक्त प्रकार का विचार अधिक समय तक स्थायी न हो सका। वे सोचने लगे कि मेरी यह सम्पत्ति आज की तो है नहीं, पिता-पितामह ने मेरे लिए इसे अर्जित कर रक्खा है। इसका उपभोग करने का मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है। यह सब छोड़कर किस अज्ञात देश में जाकर निवास करूँ मैं ? कुछ ही क्षण में उनके मन में फिर यह बात आई—तो क्या मैं इतना हृदयहीन, इतना स्वार्थी हो गया हूँ कि इस सुख-सम्पदा, इस धन-विभव के लिए कन्या के मनोभावों की उपेक्षा कर जाऊँ ?

द्वारकानाथ को एक बात की चिन्ता और थी। वे सोचते कि सवेरे देवनाथ आकर यदि विवाह करना अस्वीकार कर दे तब क्या होगा ? तब तो गली-गली की खाक छानना मेरे लिए अनिवार्य हो जायगा। इधर यदि वह स्वीकार कर लेता है; तब दुःख और लज्जा के कारण प्रभा कदाचित् प्राण-त्याग किये बिना न रहेगी।

द्वारकानाथ ने सारी रात व्याकुलभाव से काट दी। उषा-काल में आकाश के साथ ही साथ उनके मुख-मण्डल पर भी लालिमा दौड़ गई। व्यग्र होकर वे देवनाथ के निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे। नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर यथासमय वह उनके पास पहुँच गया और उसने कहा—मैं आपके आदेश को स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ।

“तैयार हो ! सभी शर्तों पर ?”

देवनाथ ने मस्तक हिलाकर कहा—हाँ, सभी शर्तों पर।

बारहवाँ परिच्छेद

प्रभा का विवाह हो जाने के बाद दो-चार दिन और मनोहरपुर में व्यतीत करके मदनमोहन घर लौट गया। इतनी बड़ी सम्पत्ति उसकी बुद्धि के ही दोष से हाथ में आते-आते रह गई, इसके लिए उसे ज़रा भी अनुताप नहीं हुआ। मदनमोहन के स्वभाव में यही एक विशेषता थी।

दोपहरी की धूप धू-धू कर रही थी। सारे घर में सन्नाटा था। केवल रसोईघर से चूड़ियों की खनखनाहट सुनाई पड़ रही थी। मुख्य द्वार के पास खड़ा होकर ऊँचे स्वर से मदनमोहन ने पुकारा—दीदी ! दीदी !

काफ़ी देर तक पुकारने के बाद भी कोई उत्तर न पाकर मदनमोहन रसोईघर के सामने गया। खिड़की में झाँककर उसने देखा—चूल्हा ज़ोरों से जल रहा है। उसके ऊपर कड़ाही चढ़ाकर मनोरमा एकाग्र मन से दूध औट रही है। उसके मस्तक पर कपड़ा नहीं है, भीगे हुए बाल पीठ पर लटक रहे हैं, पसीने से वह तर है।

बाहर किसी के पैरों की आहट पाकर घूम कर मनोरमा ने देखा। पति को देखते ही उसके गालों पर ज़रा-सी लालिमा दौड़ गई। उतावली के साथ मस्तक पर कपड़ा खींचकर खौलते हुए दूध में वह फिर जल्दी-जल्दी कलछी चलाने लगी। उस समय दूध में उफान आ रहा था। ज़रा देर तक खड़े रहने के बाद मदनमोहन ने हँसते हुए कहा—कहो जी, क्या एक बार ज़रा-सा ताक लेने में भी तुम्हारा दूध जल जायगा ? इतने दिन के बाद लौटकर आया हूँ, ज़रा-सा तुम ध्यान से मेरी ओर देखना तक नहीं चाहती हो ?

मनोरमा ने अञ्चल से पकड़कर कड़ाही उतार ली। एक कटोरे में गरम दूध उँडेलती-उँडेलती वह बहुत धीरे से हँस पड़ी। परन्तु मुँह से वह कुछ बोली नहीं।

मदनमोहन ने कहा—दीदी कहाँ हैं ? इतनी गर्मी में तुम क्यों चूल्हे के पास बैठी हो ? रसोइये को क्या हो गया है ?

कड़ाही को एक ओर रखकर मनोरमा ने कहा—दीदी ऊपर मोई हई हैं । रसोइया छोड़कर चला गया ।

“क्यों ? वह चला क्यों गया ? शायद दीदी ने झगड़ा करके उस निकाल दिया है ?”

रसोई-घर के एक तारख पर मसाले-आदि मँभालकर रखते-रखते मनोरमा कहने लगी—नहीं, नहीं, उसे किसी ने निकाला नहीं । वह स्वयं चला गया है । दीदी को हैजा हो गया था न ? उस समय डर के मारे महाराज और कहार दोनों ही भाग गये ।

“दीदी को हैजा हो गया था ? तो मुझे क्यों नहीं खबर दी तुमने ? ठीक से तबीअत उनकी अच्छी हो गई है न ?”

“हाँ, अच्छी हो गई है”—यह कहकर मनोरमा लोटा उठाकर हाथ धोने के लिए बाहर निकल गई ।

उमादेवी भयङ्कर रोग से युद्ध करते-करते अभी तक ठीक से विजय नहीं प्राप्त कर पाई थीं । इस युद्ध में विजयलक्ष्मी उनके अनुकूल रहेंगी या नहीं, यह बात भी अभी तक अनिश्चित थी । मदनमोहन ने आकर उनके सूखे हुए शरीर पर हाथ फेरा । वह कहने लगा—क्या हो गया है दीदी, मुझे ज़रा-सी खबर तक तुमने नहीं दी ?

उमादेवी का कण्ठ-स्वर बहुत ही क्षीण हो गया था । उन्होंने बहुत ही धीरे से कहा—तू आकर करता क्या ? खराब बीमारी थी, ऐसे समय में तेरा न आना ही अच्छा था । जाने दो, जो होना था, वह हो गया । मैं जीवित रहूँ या न रहूँ, तुमसे एक बात आज कह रखती हूँ भाई ! बहू की तू अब इस तरह की उपेक्षा न किया कर । अहा, वह बड़ी अच्छी लड़की है रे ! इस बार बीमारी के समय उसने मेरी इतनी सेवा की थी ! वैसी सेवा न तो मा कर सकती है और न अपने पेट की लड़की ही कर सकती है ।

मदनमोहन बोल उठा—तो भी सारी बातों की सूचना मुझे मिलनी चाहिए थी। परन्तु अब यह सब कहने-सुनने से क्या मतलब ? तुम जीवित रह गई हो, यही बहुत है।

“जीवित रह सकूँ या न रह सकूँ, मेरे लिए इसमें कोई वैसी बात नहीं है। रहने में भी आपत्ति नहीं है, जाने में भी अनिच्छा नहीं है। कुछ भी हो, एक सत्पुरुष की कन्या मेरे घर में आई है अवश्य। संकट का समय आये बिना आत्मीय स्वजन या मित्र की परीक्षा नहीं हो पाती, इस बात को अब मैं भली-भाँति जान पाई हूँ।”

इस्तिरी किये हुए कुर्ते के ऊपर तह किया हुआ खूब साफ़ चदरा डाले हुए मदनमोहन टहलने जा रहा था, एकाएक न जाने क्या सोचकर वह रसोईघर की ओर धूम पड़ा। दालान में बैठी हुई मनोरमा पान लगा रही थी। ढेर के ढेर बीड़े उसके सामने रक्खे हुए थे। मालिक घर में आ गये हैं। साँझ को महफ़िल जमेगी, उस समय पान की आवश्यकता पड़ेगी ही। इसी विचार से इतनी अधिक तैयारी करने की आवश्यकता उसे पड़ी थी।

मदनमोहन को देखते ही मनोरमा ने मस्तक पर का कपड़ा ज़रा-सा और खींच लिया। मदनमोहन ने हँसकर कहा—कहो मित्र ! यह कैसी बात है ? मित्र के सामने घूँघट कैसा ? ज़रा दो-चार बीड़े पान तो दो, देखूँ कैसा पान लगाया है तुमने ? यह क्या ? इतने पान लगाकर क्या करोगी ? क्या आज तुम लोगों ने घर में किसी विशेष प्रकार के अनुष्ठान का आयोजन कर रक्खा है ?

मनोरमा कुछ बोली नहीं। ज़रा-सा हँसकर उसने पान के थोड़े-से बीड़े उठाये और खुले हुए डिब्बे के भीतर रख दिये। बाद को वह सुपारी काटने लगी। मदनमोहन ने कहा—इस तरह का श्रद्धाहीन दान मैं नहीं ग्रहण करता हूँ। हाथ में देने पर क्या तुम्हारा मान घट जाता ?

मनोरमा सरौता रखकर चूना लगे हुए पानों के ऊपर केवड़े से सुवासित कत्था तेज़ उँगली से लगाने लगी। मदनमोहन की बात का

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। पान भी उठाकर उसने उन्हें हाथ से नहीं दिया। अन्त में निरुपाय होकर मदनमोहन झुका और उसने डिब्बे से पान उठा लिया।

मस्तक झुकाये हुए मनोरमा अपना कार्य बराबर करती रही। मदनमोहन कुछ क्षण तक तो ध्यानपूर्वक उसकी ओर ताकता रहा, बाद को ज़रा-सा हँसकर वह चला गया। एकाएक उसके मन में यह बात आई—मनोरमा तो बहुत ही अच्छी है ! वही तो प्रभा है ! उसका सौन्दर्य भी तो मैं देख आया। मनोरमा क्या उसकी अपेक्षा कम सुन्दरी है ? प्रभा की अपेक्षा बल्कि यह अधिक सुन्दरी है ! कितना अहङ्कार है प्रभा में ! कितना मिज़ाज करती है वह ! और मनोरमा ? यह तो मानो विनय और लज्जा की मूर्ति है ! मैं स्त्री से प्रेम नहीं करता, परन्तु मनोरमा-जैसा मित्र भी तो वैसा बुरा नहीं है। अब उससे ज़रा और भी हिल-मिलकर चलना होगा। शायद मनोरमा के साथ मेरा व्यवहार वैसा अच्छा नहीं है।

उस रात्रि में मित्र-मण्डली के लोगों ने आकर जैसे ही तबला ठनकाना आरम्भ किया, साथ ही सरङ्गी से भी रीं-रीं की आवाज़ निकलनी आरम्भ हुई, वैसे ही उमादेवी का दुर्बल मस्तिष्क उस सुर या बेसुर की शब्द-लहरी से पीड़ित हो उठा। मनोरमा 'यूडीकोलन' जल में कपड़ा भिगोकर ललाट और खोपड़ी पर पट्टी रख रही थी। उमादेवी ने कातर-भाव से कहा—इतनी असाध्य साधना करके तुमने मुझे बचाया तो बहू, परन्तु यह मदन अभागा—! देखती हो न तुम ? मेरे प्राण लिये बिना यह न रहेगा। अच्छा ही हुआ यह दुष्ट इतने दिनों तक यहाँ नहीं रहा। ऊपर से कहता है कि मुझे खबर क्यों नहीं दी गई ? खबर देने पर तो उसी दिन आकर मेरा अन्त करके निश्चिन्त हो गया होता यह।

मनोरमा उठकर खड़ी हो गई। उसके कोमल और शान्त मुख पर अकस्मात् कठोरता आ गई थी। स्वयं उसके प्रति चाहे सैकड़ों प्रकार के अत्याचार किये जाते, वह चुपचाप सहन कर लेती, ज़रा-सा ज़बान तक

न हिलाती। परन्तु दूसरे के प्रति यदि अणुमात्र भी अन्याय होता तो उसका हृदय किसी प्रकार भी उसे न सहन कर पाता। इसके सिवा उसने उदासीनभाव से रहने के लिए जो प्रतिज्ञा कर रखी थी, ऐसे अवसर पर उसकी भी उपेक्षा ही करना उसने उचित समझा। एक आदमी के प्राणों पर आ जाय और एक आदमी आनन्द मनावे ! सर्वथा असह्य है यह ! तुरन्त ही नौकर से उसने कहला भेजा कि दीदी की तबीअत अधिक खराब हो गई है, शीघ्र ही भीतर आना होगा।

उस दिन मुजरा करने के लिए बाई जी ने कृपा नहीं की थी। केवल मित्रगण आकर जमे हुए थे। मदनमोहन व्यस्त होकर उठ आया। दीदी के प्रति उसके हृदय में भक्ति का लेशमात्र भी अभाव नहीं था, परन्तु सोचा उसने यही था कि दीदी की तबीअत अब बहुत-कुछ ठीक हो गई है, इससे गाना-बजाना होने में हानि ही क्या है ? कितने दिनों के बाद तो लौटकर आया हूँ ?

अन्तःपुर के द्वार के पास मनोरमा खड़ी थी। बड़ी ही उतावली के साथ मदनमोहन के भीतर प्रवेश करते ही वह कठोर स्वर में बोली— बाजे की धमक के कारण दीदी के मस्तक की पीड़ा बढ़ गई है। यह क्या गाने-बजाने का समय है ?

जो व्यक्ति कभी ज़रा-सा मुँह उठाकर बोलता तक नहीं, वही यदि अकस्मात् ज़ोरों की डाँट बतलाने लगे तो हृदय पर चोट बड़ी करारी पहुँचती है। उसके कारण बहुत ही लज्जित होना पड़ता है। मनोरमा ने मदनमोहन को आज जो फटकार बतलाई थी वह बिलकुल समय के अनुकूल थी। मदनमोहन के हृदय पर उस फटकार का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसकी उच्छृङ्खलता का प्रतिबिम्ब मानो उसके मानस नेत्रों के समक्ष मुहूर्त्त-मात्र में ही उदित हो आया। वह सोचने लगा—सच तो है ! आमोद-आह्लाद के चक्कर में मैं इस प्रकार पड़ा रहता हूँ कि मानो जीवन में मेरे लिए महत्त्व का और कोई काम ही नहीं है। माता के समान आदरणीया बड़ी बहन मृतप्राय अवस्था में चारपाई पर

पड़ी हैं, इधर मैं अपने साथियों को लिये हुए रात भर मनो-विनोद करता रहूँ ! लज्जा के मारे मदनमोहन का मुँह लाल हो उठा। एक लुद्र बालिका, अभी दो दिन से इस परिवार में आई है यह ! यह भी मेरी परम श्रद्धेय दीदी के लिए मेरी अपेक्षा अधिक चिन्ता करती है। यह बात मन में उदित होकर आज मदनमोहन को बहुत ही व्यथित करने लगी।

पत्नी की फटकार का मदनमोहन के हृदय पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा। उसने निश्चय कर लिया कि दीदी की तवीश्रत तब तक काफ़ी अच्छी न हो जायगी तब तक बैठक में किसी प्रकार का जमाव न होगा। मित्रों को उसने अपने निश्चय की सूचना दे दी। इससे मित्र-मण्डली में उसका थोड़ा-सा उपहास भी हुआ।

दूसरे दिन की रात मदनमोहन को एक मित्र के यहाँ व्यतीत करनी पड़ी। प्रातःकाल निद्रा भंग होने पर वह घर लौटा। उस समय तक उसके ऊपर से नशा भी उतर चुका था। इससे उस समय उसकी बुद्धि बहुत कुछ निर्मल थी। अपने स्वभाव के सम्बन्ध में उसे एकाएक बहुत ही लज्जा आने लगी। उसने सोचा कि घर में रोगी है, रसोई बनाने तक के लिए कोई आदमी नहीं है। एक बालिका के कन्धे पर सारी गृहस्थी का पर्वत-जैसा भार लदा हुआ है। इधर मैं निश्चिन्त होकर दूसरे के घर में पड़ा-पड़ा मनोरञ्जन करता रहा !

किसी ओर भी न ताककर मदनमोहन सीधे ऊपर चला गया। दीदी के समीप जाने में उसे भय हो रहा था। परन्तु गये बिना निर्वाह नहीं था। मन ही मन उसने स्थिर किया कि विलम्ब करने पर सङ्कट की वृद्धि ही होगी, उसका ह्रास नहीं होगा। इसलिए स्वभावतः दो-चार बार इधर-उधर करने के बाद उसने सङ्कोचपूर्वक कमरे में प्रवेश किया।

मनोरमा उस समय दीदी को पंखे से हवा कर रही थी। पति को देखते ही घूँघट खींचकर वह ज़रा-सा खिसक गई। बाद को पंखा लेकर मदनमोहन ने जैसे ही धीरे-धीरे हवा करना आरम्भ किया, वैसे ही वह उठकर चली गई। उमादेवी मुँह फेरे हुए थीं। उन्हें अभी तक यह नहीं

मालूम हो सका था कि मदनमोहन आ गया है। करवट बदलते ही बहुत ही उग्र स्वर में वे बोलीं—क्यों रे पाजी, रात भर कहाँ था तू ?

मदनमोहन मस्तक मुकाये हुए हवा करता रहा। उमादेवी पहले की ही तरह उग्र भाव से कहती गई—यदि नहीं आना था तो बतलाकर क्यों नहीं गया पाजी ? ज़रा-सी लड़की है वह, तेरे अत्याचारों के कारण मरी जा रही है ! आधी रात तक बेचारी चौके में बैठी-बैठी परेशान थी ! मेरे मर जाने पर तो तू शायद उसकी हत्या करके ही रहेगा ! यदि ऐसा ही करना था तो तूने विवाह क्यों किया ? कौन तेरे गले में फाँसी लगाये हुए था रे गधे ?

मदनमोहन ने देखा कि चुप रहने पर दीदी क्रमशः बढ़ती ही जायँगी। इधर हैजे के आक्रमण से बचने के बाद से उन्हें यह एक नया रोग हो गया है। इसलिए बात को टाल देने का प्रयत्न करते हुए हँसकर वह कहने लगा—परन्तु विवाह तो मैंने नवाब खाजा खाँ की बहन के साथ किया नहीं है। वहाँ वे रात-दिन मसनद के सहारे बैठी ही नहीं रहा करती थीं। अच्छा, तो मैं जाकर स्नान किये आता हूँ। दिमाग़ ज़रा गरम हो उठा है इस समय। इसके सिवा स्नान करने का समय भी तो अब हो गया है।

नीचे आकर मदनमोहन ने नौकर से स्नान के लिए जल ले आने को कहा और रसोईघर के पास आते ही उसने देखा कि मनोरमा भी उसी कमरे में प्रवेश कर रही है। उस समय वह बड़ी ही उतावली में थी। किसी भी ओर उसका ध्यान नहीं था। चूल्हे के ऊपर बटलोई में भात खत-खत करके चुर रहा था। कलछी से एक चावल लेकर मनोरमा ने हाथ से दबाया। बाद को एक संसी से बटलोई को वह चूल्हे पर से उतारने लगी।

व्यस्त होकर मदनमोहन ने कहा—ओहो, यह क्या करती हो ? तुमसे नहीं उतरेगी वह ! जल जाओगी तुम।

उतावली के साथ जूते उतारकर मदनमोहन भीतर पहुँच गया। आग्रहपूर्वक उसने कहा—ठहरो, रहने दो तुम। मैं उतारे देता हूँ।

यह कहकर मदनमोहन मनोरमा के हाथ से संसी को छीनने के लिए व्यग्रभाव से दौड़ा। ज़रा-सा खिसककर मनोरमा व्यस्तभाव से बोल उठी—“नहीं, नहीं, तुम मत छुओ, सब खराब हो जायगा। मैं उतारे लेती हूँ।

ज़रा-सा सहमते हुए मदनमोहन ने कहा—“क्यों ? मेरे छूने से नष्ट क्यों हो जायगा।

“यों ही। तुम ज़रा-सा और खिसक जाओ। भात लगा जा रहा है। विलम्ब करने से वह बिलकुल खाने ही लायक न रह जायगा।”

“क्या तुम चुरते हुए भात के सहित इतनी बड़ी बटलोई उतार सकोगी ?”

मदनमोहन करुणापूर्ण दृष्टि से मनोरमा के छोटे-छोटे और कोमल हाथों की ओर देखने लगा। इतने में बड़ी आसानी से उतारकर वह बटलोई को भूमि पर रख चुकी थी।

चावल पसाने के लिए बटलोई के मुँह पर तश्तरी लगाकर मनोरमा ने टेढ़ी करके उसे सावधानी के साथ गमले के ऊपर रख दिया और वह कहने लगी—“मैं नवाब खाजा खाँ की बहन तो हूँ नहीं। मुझे भात-आदि बनाने का अभ्यास है।

मदनमोहन क्षण भर बुद्धिहीन-सा होकर ताकता रहा। यह कण्ठ-स्वर और वाक्य तो स्वयं उसी का था, किन्तु यहाँ तक वह कैसे आ पहुँचा, यह उसकी समझ में न आ सका। परन्तु यह फाँस उसके हृदय में गड़ गई है, यह अनुभव करने का अवसर न देने के लिए बात उलट-कर वह कहने लगा—“कल रात को न आकर मैंने बहुत बड़ा अन्याय किया है न ? बहुत रुष्ट हुई थीं तुम ?

“मैं ?”

ऐसे उपेक्षापूर्ण स्वर में उत्तर देकर मनोरमा ने आश्चर्य्य प्रकट किया कि मदनमोहन उससे लज्जित हो उठा। इस एक “मैं” शब्द के द्वारा मनोरमा ने मानों यह कहा कि तुम रात को लौटकर घर नहीं आये, इसमें मेरे लिए ऐसी कौन-सी बात है कि तुमसे रुष्ट होऊँ ? तुम घर में रहो तो मुझे कोई लाभ नहीं है, बाहर रहो तो कोई हानि नहीं है ! परन्तु यह

इतनी अर्थपूर्ण बात प्रकट करते समय मनोरमा के कण्ठ-स्वर में किसी प्रकार का अभिमान का भी भाव नहीं आ पाया। मन में यह अनुभव करके मदनमोहन चुपचाप चला गया।

उस दिन भोजन के समय आसन के पास थाली रखकर मनोरमा जब रसोईघर में लौटी जा रही थी तब मदनमोहन एकाएक बोल उठा—
ओह ! इस तरह जल रहा है भात ! यह क्या खाया जा सकता है ? परन्तु कोई बात नहीं है, आज यदि न खाऊँ तो भी कोई वैसी बात नहीं है।

मनोरमा उतावली के साथ एक पंखा लाकर थाली के ऊपर हवा करने लगी। स्वामी के सामने इस प्रकार वह और कभी नहीं निकली थी। इससे पहले तो वह लजा का अनुभव कर रही थी, परन्तु तुरन्त ही उसके मन में यह बात—आहा ! भोजन करने बैठे हैं, कष्ट होगा। सङ्कोच कब तक करती रहूँ ?

धीरे-धीरे भोजन करते-करते मदनमोहन ने कहा—बहुत उत्तम भोजन बनाया है तुमने। तुमने जो-जो चीजें बनाई हैं, वे सभी एक से एक बढ़कर हैं। इतना स्वादिष्ट भोजन तो हमको बहुत दिनों से नहीं मिला था। कब सीखा है तुमने इस तरह भोजन बनाना ?

“हमारे यहाँ भोजन बनाने के लिए कोई महाराज तो था नहीं। मुझे और माता जी को ही मिलकर भोजन बनाना पड़ता था। मैं जब दस वर्ष की थी तभी मुझे एक समय का भोजन बनाना पड़ता था।

मदनमोहन ने भोजन करना बन्द करके मनोरमा की ओर ताकते हुए कहा—पसीने के मारे मस्तक के बाल भीग गये हैं तुम्हारे ! यह कहते-कहते बायें हाथ से ललाट में लिपटे हुए बालों के गुच्छों को वह हटाने लगा। उस समय एकाएक वह बोल उठा—वाह ! कितने सुन्दर हैं तुम्हारे बाल मनोरमा !

उतावली के साथ मनोरमा ने अपना मस्तक खींच लिया। उसके दोनों कपोलों पर लालिमा दौड़ गई थी। पंखा फेंककर तेज़ी से पैर बढ़ाती हुई वह रसोईघर के भीतर चली गई।

उस दिन से मदनमोहन के अन्तस्तल में न जाने कैसा एक परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। वह बहाने निकाल-निकाल कर बार-बार भाण्डार-गृह और रसोईघर में चक्कर लगाने लगा। मनोरमा को उसने जितनी बार देखा उतनी बार उसे यही मालूम पड़ा कि मानो घर के भीतर एक ऐसी पुतली मशीन की सहायता से घूम रही है, जो किसी प्रकार का शब्द नहीं करती। बाद को दीदी के घर में जाकर जब वह देखता तब उसे मालूम होता कि उसी पुतली या मूर्ति के निपुण हाथों की सेवा के कारण रूखे स्वभाव की दीदी के कातर और सूखे हुए मुँह पर शान्ति की रेखा विकसित हो उठी है। इस प्रकार एक साथ ही गृहिणी, जननी और सेविका के रूप में किसी नारी को मदनमोहन ने और कभी नहीं देखा था। इसलिए मनोरमा में इन तीनों ही बातों का समावेश देखकर मदनमोहन अवाक् हो गया।

उपेक्षित जीवन व्यतीत करती रहने पर भी मनोरमा ने अपने हृदय में अन्य स्त्रियों के समान अभिमान के भाव को स्थान नहीं दे रखा था। निरन्तर कठिन से कठिन परिश्रम में लगी रहने के कारण उसकी आकृति पर क्लान्ति की रेखा उदित हो आती है अवश्य, किन्तु उसकी अपूर्व आभा में ज़रा भी तो क्षीणता नहीं आ पाती।

आज पहला दिन था जब मदनमोहन की दृष्टि मनोरमा की अपूर्व मुख-श्री की ओर गई थी। वह सोचने लगा—कैसी उत्तम मूर्ति है यह ! एक दिन भी तो मैं ज़रा-सा इसका आदर नहीं कर सका। इतने दिनों तक सबके सामने इसका उपहास ही करता रहा हूँ मैं ! यह बात सोच-सोचकर अपने आप पर उसे बड़ी अश्रद्धा हुई। जिस जोहराबाई की रूपराशि की प्रशंसा करते-करते आज तक वह अपनी जिह्वा को कलुषित करता रहा, उसके हाव-भाव, उसकी चञ्चल और लीलामय दृष्टि के साथ मनोरमा की गम्भीर और तेजपूर्ण मुख-श्री की तुलना करते समय उसका ललाट से लेकर कण्ठ तक लाल हो उठा। मदनमोहन ने सोचा छिः, कैसा आदमी हूँ मैं ?

तेरहवाँ परिच्छेद

मदनमोहन के लिए सन्ध्या का प्रलोभन बहुत ही प्रबल था, परन्तु आज नवजीवन की सूचना होने पर बहुत ही कठिन शपथ करके उसने अपने आपको आवद्ध कर लिया था। अब आमोद-प्रमोद के साधन के बिना ही उसे सन्ध्या का समय व्यतीत करना था। परन्तु समय व्यतीत करने का साधन क्या था ?

दीदी सो रही थीं। उनके कमरे में निस्तब्धता थी। बहुत धीरे-धीरे पैर बढ़ाता हुआ वह वहाँ से हट आया। रसोईघर में एक नई महरा-जिन आ गई थी। इसमें वह अत्यन्त ही श्रीहीन-सा मालूम पड़ने लगा था। चारों ओर घर में और बाहर घूमने-फिरने के बाद मदनमोहन छत पर गया। वहाँ अस्ताचल की ओर प्रस्थान करनेवाले सूर्य की विदाई का अभिनन्दन गुलाबी अक्षरों में सजाये हुए प्रकृतिदेवी विषादमयी दृष्टि से ताक रही थीं। चारों ओर धीरे-धीरे अन्धकार की नीरव कालिमा अपना विस्तार करने लगी थी। उस समय का दृश्य मदनमोहन को अच्छा नहीं लग रहा था।

छत पर से उतरकर मदनमोहन ने दबे-पाँव मनोरमा के कमरे में प्रवेश किया। इधर कई दिनों से प्राण-पण से परिश्रम करते-करते तथा लगातार रात-दिन जागरण करती रहने के कारण उसका शरीर बहुत ही शिथिल हो गया था। केवल मन के जोर से शरीर को खींच-खींचकर वह मशीन की तरह चला रही थी। आज मनोरमा को जैसे ही ज़रा-सा अवकाश मिला, वैसे ही कई दिनों की सञ्चित अवसन्नता बाँध टूट जाने पर जल के प्रवाह के समान उसे वेग से बहा ले गई। आँखें मूँदे हुए वह क्लान्तभाव से बिस्तरे पर पड़ी थी। मदनमोहन को ऐसा मालूम पड़ा कि मानों वह सो रही है। इससे ज़रा-सा साहस करके उसकी शय्या के पास जाकर वह खड़ा हुआ।

मनोरमा सोई नहीं थी। आज कई दिनों के बाद ज़रा-सा अवसर पाकर वह अपने भाग्य पर विचार करने में तन्मय थी। आज इतने दिनों के बाद स्वामी को अच्छी तरह देखने का अवसर उसे मिला है, अपने हाथ से भोजन बनाकर सामने बैठाकर उसने उन्हें खिलाया है। लेटी-लेटी वह यही सब सोच रही थी। स्वामी ?—स्वामी की याद आते ही एक आकुल निःश्वास उसके वक्ष को मथित करके निकल आया। उसने मन ही मन कहा—स्वामी मेरा है कौन ? वे तो मेरे मित्र हैं, केवल मित्र हैं ! परन्तु मित्र क्या ऐसे ही होते हैं ? उन्हें तो एक प्रकार से शत्रु ही कहना चाहिए।

मनोरमा ने फिर एक बहुत ही गहरी आह भरी। विवाह के समय की बात उसे याद आ गई। मन ही मन वह कहने लगी—विवाह के समय कितनी आशा की थी मैंने इन्हें देखकर। सोचा था कि इनके इस सुन्दर शरीर के भीतर ऐसा ही सुन्दर एक हृदय भी छिपा हुआ है। उस हृदय का आज मुझसे विनिमय हो गया। आज से वह मेरा ही है। इससे मैंने एकमात्र अपना समझा था प्यार करने योग्य इनके इस मुख को ! इसी लिए तो लज्जा से झुके हुए नेत्रों के गुप्त कटाक्षों से मुहूर्त्तभर देखती रह गई थी मैं इसे ! साथ ही साथ अपने कुमारी-हृदय की प्रेम-पुष्पाञ्जलि भी अर्पित कर दी थी उनके चरणों के नीचे। बाद को उन दो दिनों में कितनी बार मुलाकात हुई थी उनसे ! जी भरकर उनकी ओर ताकने का साहस तो मैं कर नहीं सकती थी उस समय ! हृदय मेरा भय से स्पन्दित था, नेत्रों पर लज्जा का आवरण था ! परन्तु फिर भी अवसर मिलते ही किसी प्रकार मैं देख लिया करती थी उनकी ओर। लज्जा के कारण मैं मुख अवश्य नहीं उठा सकती थी, किन्तु उसके कारण उन्हें देख लेने का जो सुख था, उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। और कुछ न सही तो चरण तो दोनों मेरे नेत्रों के सामने ही विद्यमान थे !

मनोरमा की विचारधारा बराबर जारी रही। वह मन ही मन कहती गई, मेरे बालिका-हृदय को एक अपूर्व पुलक कितना कम्पित करता रहा

उधर कई दिनों तक ! आशा की कैसी रागिणी झट्ट होने लगती थी मेरे कर्णमूल के पास ! नूतन जीवन का एक चित्र नये साज में, नये आनन्द में, जीवन-प्रान्त में धीरे-धीरे उदित होता आ रहा था । नवीन वसन्त का उदय होने पर कदाचित् प्रकृति में भी इसी प्रकार परिवर्तन हुआ करता है ! बाद को वसन्त का आगमन होने से पहले ही मेरी सजी-सजाई वाटिका में एक प्रलयकारी तूफ़ान आया और उसमें लगे हुए उत्तमोत्तम पौधों को जड़-सहित उखाड़कर फेंक दिया उसने । मैंने समझ लिया कि हृदय में जो इतनी बड़ी आशा मैंने पाल रखी थी, वह दुराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी । जिस सुन्दर हृदय की ओर लुब्ध नेत्रों से मैं ताक रही थी, वह सुन्दर तो है ही नहीं; किन्तु हृदय कहने के योग्य कोई वस्तु वहाँ है या नहीं, इसमें भी बहुत बड़ा सन्देह है ।

क्षण भर के विराम के बाद मनोरमा के मन में फिर तूफ़ान आ गया । वह सोचने लगी—इतने दिनों से इनका जो परिचय मैं प्राप्त करती आ रही हूँ, स्वामी के उस प्रकार के परिचय से किसी भी रमणी का हृदय भय से विह्वल हुए बिना नहीं रह सकता । अधिक आकांक्षा मैंने कभी की नहीं । परन्तु इतनी अधिक निष्ठुरता का भी शायद और किसी को कभी सामना न करना पड़ा होगा । स्वामी का घोर अधःपतन प्रतिदिन आँखों से देखती हुई भी विलकुल एक बाहरी आदमी की तरह ज़रा-से भोजन और वस्त्र के लिए पड़ी रहना है मुझे । जोर देकर एक भी बात मुँह से निकालने का तो मुझे अधिकार नहीं है । संसार में अन्यत्र कहीं आश्रय मिलने की सम्भावना होने पर भी मैं इतना सहन कर सकती थी, इसमें मुझे सन्देह है । पित्रालय में माता जी हैं नहीं । ममताहीन विमाता का ही आश्रय ग्रहण करने के लिए किस सान्त्वना की आशा से जाऊँ ?

ज़रा-सी आह भरने के बाद मनोरमा की विचार-धारा फिर अग्रसर हुई । वह सोचने लगी—शान्ति प्राप्त करने की कोई भी आशा न देखकर मैंने स्थिर किया कि स्वामी की सेवा-टहल में लगी रहकर ही मैं अपना जीवन व्यतीत कर दूँगी । यहाँ रहने पर कम से कम उनके

श्रीचरणों के दर्शन का सौभाग्य तो मिलता ही रहेगा । पित्रालय में जाकर रहने में तो इसकी भी सम्भावना नहीं है । परन्तु आज किस सङ्केत के कारण हृदय में फिर आशा और निराशा का द्वन्द्व आरम्भ हो गया है ? कौन-सी ऐसी बात आ गई है जिसके कारण नववर्षा के आकुल जल-कल्लोल के समान अधीर कामनाओं की राशि मेरे हृदय को उद्वेलित किये दे रही है ।

लम्बी साँस लेकर मनोरमा ने करवट बदली । उसके मन में यह बात आई—गरीब की लड़की हूँ मैं, क्या इसी लिए केवल भोजन-वस्त्र प्राप्त करके ही सन्तोष कर लेना होगा मुझे ? क्या इन दो वस्तुओं के भार से ही मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से पिता जी ने कन्यादान किया है ? गरीब की कन्या के हृदय में क्या बिलकुल ही वह आशा, वह आकांक्षा नहीं है, जो एक धनवान् की कन्या के हृदय में होती है ? इसी प्रकार तरह-तरह की बातें मनोरमा के हृदय में एक-एक करके आ ही रही थीं, इतने में एकाएक किसी एक मृदु शब्द से चकित होकर उसने आँख खोल दी, देखा कि कोई एक आदमी चारपाई के पास खड़ा है । सन्ध्या के धुंधले प्रकाश में वह इतना ही जान पाई कि यह कोई पुरुष है । ऐसे समय में कौन मेरे कमरे में आ सकता है ? भय के मारे उसके कण्ठ से एकाएक निकल गया—माई रे !

मनोरमा के विस्मय का कारण हृदयङ्गम करके उतावली के साथ उसका हाथ पकड़कर मदनमोहन बोल उठा—मैं हूँ, मनोरमा । मैं हूँ !

मनोरमा का विस्मय और भी बढ़ गया । उठकर वह बैठ गई और बोली—तुम हो ? अभी तक तुम टहलने नहीं गये ?

“नहीं, तुम्हारा शरीर अच्छा नहीं है, इसी लिए आज मैं टहलने नहीं गया । डक्टर बुला लाऊँ ?

“डाक्टर ? नहीं, नहीं, डाक्टर बुलाकर क्या करोगे ? ”

“डाक्टर बुलाकर क्या करूँगा ? यह तुम क्या कह रही हो ? कितनी

देर से मैं देख रहा हूँ तुम्हें ! आँखें मूँदे हुए तुम पड़ी हो, नींद नहीं आ रही है । मुँह भी तो तुम्हारा बहुत सूखा हुआ-सा मालूम हो रहा है ।

लज्जा से मनोरमा ने मुँह नीचा कर लिया । तो बड़ी देर से ये खड़े हैं यहाँ पर ? भाग्य की ही यह बात है कि मनुष्य के हृदय का भाव बाहर से नहीं मालूम हो पाता !

किसी रोग के बिना भी मनुष्य इस प्रकार चुपचाप लेटे-लेटे समय काट सकता है, मदनमोहन ने कभी इस बात की कल्पना तक नहीं की थी । उसने मनोरमा के ललाट पर हाथ रखकर कहा—ज्वर तो नहीं हो आया है ?

“नहीं—” कहकर मनोरमा ने अपना मस्तक ज़रा-सा हटा लिया ।

मदनमोहन का मुख एकाएक लाल हो उठा । एक बार झुद्ध दृष्टि से स्त्री की ओर ताककर उसने कहा—तो तबीअत तुम्हारी खराब नहीं है ! ठीक-ठीक कह रही हो तुम ?

“जी हाँ ! मुझे कुछ हुआ नहीं है । मस्तक में ज़रा-सी पीड़ा भर है, वह अपने आप शान्त हो जायगी । उसके लिए डाक्टर बुलवाने की क्या आवश्यकता है ? हमारे वहाँ तो भयङ्कर ज्वर आदि होने पर ही डाक्टर बुलाया जाता था ।”

ज़रा-सी भुँझलाहट के साथ हँसकर मदनमोहन ने कहा—वहाँ की-सी परिस्थिति यहाँ तो है नहीं । अब तो यहाँ की-सी ही व्यवस्था होनी चाहिए ।

मनोरमा की आँखों और मुँह से उत्ताप निकलने लगा । हृदय उसका अभिमान से पूर्ण हो उठा । परन्तु मुँह से उसने एक भी बात नहीं निकलने दी । मनोवेदना सहन करने का ही उसे अभ्यास था; अपनी ओर से किसी के मन को वेदना पहुँचाने का उसका स्वभाव नहीं था । इसलिए मन में अभिमान का जो भाव उदय हो रहा था, मनोरमा ने उसे बड़े यत्न से रोक दिया और मुस्कराती हुई वह बोली—कोई

आवश्यकता नहीं है, अभी ही वह सब ठीक हो जायगा। जाऊँ, ज़रा देखूँ तो, दीदी क्या कर रही हैं ?

मदनमोहन ने मनोरमा को खाट पर से उतरने नहीं दिया। खड़ी होने के लिए उसके भूमि पर पैर रखते ही वह बिलकुल सामने आकर खड़ा हो गया। उसे रोकते हुए उसने कहा—दीदी सो रही हैं। अभी ही मैं उन्हें देखे आ रहा हूँ। देखो, आज मैं घूमने नहीं गया हूँ, परन्तु तुम इससे प्रसन्न तो नहीं हुई हो; या हुई हो ? कहो, कुछ बतलाती क्यों नहीं हो ?

सिरहाने से तकिया उठाकर मनोरमा उसकी झालर को उलट-पलट रही थी। उसने मस्तक नहीं उठाया। नीचे की ही ओर ताकती-ताकती वह बोली—वे लोग तो यहाँ आवेंगे न ?

“यदि न आवें ?”

अविश्वास के साथ मनोरमा ने मदनमोहन के मुँह की ओर ताका।—“कभी न आवेंगे ?”

“यदि कभी न आवें ?”

मनोरमा के दोनों ही नेत्र उज्ज्वल हो उठे। उसने कहा—तब तो बड़ा ही अच्छा हो।

मदनमोहन मनोरमा के ज़रा-सा और भी समीप आगया। उसने कहा—केवल अच्छा ही होगा ? तुम खुश न होओगी ?

“हूँगी।”

“क्यों ?”

मनोरमा के नेत्रों में आनन्द की तरङ्ग उत्पन्न हो आई। गर्दन नीची करके वह बोली—यह मैं नहीं जानती हूँ। शायद—

ज़रा-सा आग्रह के साथ खाट की पट्टी पकड़कर मदनमोहन झुक पड़ा। उसने कहा—कहती क्यों नहीं हो ? रुक क्यों गईं तुम ? शायद क्या ?

“मित्र हो, इसी लिए।”

“मित्र ! यह तुम क्या कह रही हो ? समझ में नहीं आ सकी है बात तुम्हारी ।”

कुछ लज्जित भाव से मुस्कराती हुई मनोरमा कहने लगी—क्यों ? क्या हम लोग परस्पर मित्र नहीं हैं ?

“ओह ! तुम मेरी ‘वह’ बात कह रही हो ?” ठहाका मारकर हँसते-हँसते मदनमोहन मनोरमा के प्रायः ऊपर लोट पड़ा ।

ज़रा-सा खिसककर कुछ घबराहट के साथ मनोरमा बोल उठी—“कहीं कोई सुन न ले ! मैं जाती हूँ अब ।” यह कहकर वह जैसे ही उठकर चलने को हुई, मदनमोहन हँसते-हँसते सामने खड़ा हो गया । उसने कहा—सुन नहीं लेता ? क्या करेगा कोई सुनकर ? जाने के लिए तुम इस तरह व्यस्त क्यों हो ? ज़रा देर तक और खड़ी रहोगी तो क्या छोटी हो जाओगी ? मैं बाध तो हूँ नहीं कि चट से निगल जाऊँगा तुम्हें ? अच्छा, सुन लेने पर लोग कहेंगे क्या मनोरमा ?

पति का उस समय का रंग-ढंग देखकर मनोरमा संकुचित हो उठी । उसे कुछ भय भी मालूम पड़ा । वह सोचने लगी—इन्होंने जो एकाएक इस तरह घनिष्ठता प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया है, इसका क्या अर्थ है ? यह इनकी स्वाभाविक अवस्था है न ? संकुचित भाव से एक ओर हटकर सिमटी हुई-सी वह कहने लगी—लोग सोचेंगे नहीं कि ऐसे साँझ के समय में ये लोग निरर्थक इतना हँस क्यों रहे हैं ?

मदनमोहन ने कहा—तो इसमें कौन-सी ऐसी विचित्र बात है ? आदमी मित्र के साथ हँसता नहीं ? अच्छी बात है, हँसने पर यदि तुम्हारी निन्दा होने की सम्भावना है तो हँसने की अब आवश्यकता नहीं है । मतलब की ही बातें की जायँगी अब । अच्छा, मेरे मन में यह बात आती है कि थोड़े दिनों तक कहीं हवा खा आवें !

पति की विनोदमयी दृष्टि से अपने दोनों सरल नेत्रों को मिलाकर मनोरमा ने कहा—अच्छी बात है, मैं सब सामान एकत्र कर रखूँगी । क्या-क्या साथ में ले जाओगे, यह बतला देना ।

“केवल मुझे ही तो जाना है नहीं, सभी लोगों को चलना होगा।”

“सब लोगों को ?” मनोरमा विस्मयपूर्ण दृष्टि से पति की ओर ताकने लगी।

“हाँ सभी लोगों को। अर्थात् तुम, दीदी, महाराजिन, कहारिन, खिदमतगार, सभी को।

मनोरमा के नेत्र उज्ज्वल हो उठे। स्थिर कण्ठ से उसने कहा—
किन्तु मैं तो न चलूँगी। मेरी इच्छा नहीं होती चलने की।

“क्यों ? इच्छा क्यों नहीं होती ?”

मनोरमा ने उत्तर नहीं दिया। उसके मुख पर ज़रा-सी लालिमा दौड़ गई। अपनी दृष्टि उसने नीची कर ली।

“मुझसे तुम अप्रसन्न हो मनोरमा ?”

मदनमोहन ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोला—चलो, थोड़े दिनों तक घूम आवें। कुछ समय तक भ्रमण में रहने पर बाहर के साथ ही साथ हम लोग भीतर का भी परिवर्तन कर आवेंगे। चलोगी न ?”

धीरे-धीरे अपना हाथ छुड़ाकर मनोरमा दो कदम पीछे हट गई। उसका मुख अत्यन्त ही प्रभाहीन हो गया था। तो भी जोर देकर वह मुँह पर हँसी का कुछ भाव ले आई और बोली—मित्र से भी कहीं कोई अप्रसन्न होता है ?

मदनमोहन का मुख लाल हो गया। उसने कहा—तब चलोगी क्यों नहीं ?

अब भी उसने उत्तर नहीं दिया। अञ्चल में बैधी हुई कुंजियों को वह घुमाने लगी।

“समझ गया हूँ मैं ! मेरा जो इतना घृणित चरित्र है, उसी के कारण शायद मेरे साथ चलने में तुम लज्जा का अनुभव करती हो !”

“घृणा ! नहीं, नहीं, घृणा मैं नहीं करती। यह क्या कहते हो तुम ? ऐसा मत कहो।” मनोरमा ने ऐसे आर्त्तभाव से यह बात मुँह से निकाली कि मदनमोहन विस्मित हो उठा। बहुत ही विनम्र और आवेगपूर्ण स्वर में

वह बोल उठा—सच सच बतलाओ मनोरमा, क्या तुम्हें सचमुच घृणा नहीं होती ?

“बिलकुल नहीं । मुझे घृणा नहीं होती ।”

“तब क्या ?—भय होता है ?”

“हाँ, भय क्यों नहीं होता ? मित्र को मित्र पर क्या केवल घृणा और भय ही हो सकता है, और कुछ नहीं हो सकता ?”

मदनमोहन के मुख पर अनुतापपूर्ण वेदना की रेखा उदित हो आई थी । उसके ऊपर एक लज्जा-सहित आनन्द का मृदु प्रकाश दिखाई पड़ा । उस समय आग्रहपूर्वक उसने पूछा—तो क्या कष्ट होता है ? यह बात मुँह से निकालते-निकालते सामने खड़ी हुई पत्नी का एक हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर ज़रा-सा खींचते हुए, मदनमोहन ने पुकारा—मनोरमा !

पति के हाथ से अपने आपको छुड़ाकर मनोरमा बहुत दूर जाकर खड़ी हुई । हँसकर उसने कहा—हाँ, यही बात है । कष्ट नहीं होता ?—मित्र के हृदय में मित्र के लिए कष्ट नहीं उत्पन्न होता ?

मदनमोहन का ललाट से लेकर कण्ठ तक रँग उठा था । क्रोध में आकर भूमि पर पदाघात करता हुआ वह बोल उठा—केवल ‘मित्र, मित्र’ कर रही हो ! कौन है तुम्हारा मित्र ? चौबीसों घंटे इस निरर्थक मित्रता की सूचना अब मेरे कानों तक न पहुँचने देना, यह मैं बताये देता हूँ ! आज से मैं तुम्हारा मित्र नहीं हूँ ।

इतना कहकर मदनमोहन ने ज़ोर से द्वार पर धक्का दिया और वह बाहर निकल गया । मनोरमा ने एक लम्बी साँस ली । उसने मन ही मन कहा—शायद देवताओं के लिए भी यह चरित्र अज्ञेय है । स्वयं उन्होंने ही मुझे मित्र कहा है । मैंने जब वह मित्रता स्वीकार कर ली तब वे स्वयं ही उस मित्रता को स्वीकार करने में अनिच्छा प्रकट कर रहे हैं ! अच्छा है, कोई हानि नहीं है इसमें ! इसके सिवा इस प्रकार निरर्थक मित्रता का भान न करना ही अच्छा है ! हाय दुर्ज्ञेय मानव-चरित्र ! तुम हो क्या, यह आज भी मैं न समझ पाई । कभी इस तरह—जाने दो यह बात ! वे

मित्र हों या शत्रु हों, हैं मेरे स्वामी, मेरे देवता ! मैं किस हिसाब से उनके कार्यों की आलोचना करने बैठती हूँ । ऐसा करने से तो नरक में पड़े-पड़े सड़ना पड़ेगा । परन्तु आज, हाँ आज मानो कुछ परिवर्तन-सा हो गया था उनमें । आज वे मुझसे न जाने कैसी आशा कर रहे थे !—क्या मैंने किसी प्रकार का अन्याय किया है ? नहीं, उन्होंने तो स्वयं ही कहा था कि पिता जी को कन्या-दान से मुक्त करना ही भर उनका उद्देश्य था । मुझे तो वे चाहते नहीं ! तब आज क्यों एकाएक वे मुझे इतने समीप खींच रहे थे ? ओह, समझ गई !

अकस्मात् मनोरमा के बालिका-हृदय में एक सुमधुर सम्भावना की सलज्ज स्मृति जाग्रत् हो उठी और उसने उसके दोनों गुलाबी कपोलों को रँग दिया । आज मध्याह्न के समय स्वेद-बिन्दुओं से मुशोभित अलक-दाम में मनोरमा ने जिस सुमधुर स्पर्श का अनुभव किया था, जो प्रशंसासूचक वाक्य उसके कानों में पड़े थे, वे उसे स्मरण हो आये । परन्तु साथ ही साथ मनोरमा के हृदय में आत्म-सम्मान का जो अत्यन्त प्रबल भाव था, वह उदित हो आया और उसे इस बात की शिक्षा देने लगा कि स्वामी की लालसारूपी अग्नि में तुम ईंधन न लगाती रहना । क्षण भर के लिए उनके हृदय में यह जो मोह उत्पन्न हुआ है, उसमें अपने आपको बाँधने का अवसर तुम उन्हें मत देना । यदि किसी दिन यथार्थ रूप से तुम स्त्री, सहधर्मिणी हो पाओ, तभी अपना शरीर, अपना मन, अपना हृदय, हृदय के देवता के चरणों में समर्पित करके नारी-जीवन को सार्थक कर लेना, अन्यथा कोई आवश्यकता नहीं है ।

चौदहवाँ परिच्छेद

विवाह-मण्डप में बैठी हुई प्रभा देवनाथ के साथ उस समय के सभी आवश्यक अनुष्ठानों में योगदान करती रही, किन्तु उसने वे सभी कार्य नितान्त अनिच्छा से ही किये। विवाह के अवसर पर वर से हँसी-मज़ाक करके मनोविनोद करने के विचार से जो स्त्रियाँ एकत्र हुई थीं, उन्हें भी मन मसोस कर ही रह जाना पड़ा। गृहिणी ललितादेवी को प्रसन्न रखने के ही विचार से वे किसी प्रकार विवाह-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों में भाग लेती रहीं, किन्तु उनके मन में लेशमात्र उत्साह नहीं था।

भाँवरें पड़ जाने के बाद ललितादेवी के मन में इस बात की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई कि कम से कम एक दिन के लिए भी प्रभा समुराल जा पाती तो मैं दहेज़ भेजने का अपना हौसला पूरा कर लेती। ललितादेवी को यह मालूम था कि देवनाथ अपनी पट्टीदारी के एक भाई के यहाँ रहा करता है, उसका अपना कोई घर नहीं है। परन्तु एक दिन के लिए उस पराये घर में भी यदि प्रभा चली जाती, तो भी उन्हें सन्तोष हो जाता कि लड़की समुराल गई है और वे जी खोलकर दहेज़ में देने योग्य हर प्रकार के सामान भेज देतीं।

अपनी इस आकांक्षा का सङ्केत करने के विचार से ललितादेवी ने सवेरा होते ही देवनाथ से कहा—सम्भव है कि तुम्हारी भावज प्रभा को देखने के लिए उत्सुक हों। ऐसी दशा में यदि तुम चाहो तो कुछ समय के लिए उसे वहाँ ले जा सकते हो। परन्तु देवनाथ ने गम्भीरभाव से उत्तर दिया—नहीं, अभी कोई वैसी बात नहीं है, बाद को देखा जायगा।

देवनाथ के इस मनोभाव के कारण ललितादेवी को अपनी यह कामना मन ही में दबा लेनी पड़ी। यथासमय सुहाग-रात की रस्म भी

वहीं अदा करवा देने के सिवा अब उनके पास और कोई उपाय न रहा । विवाह के तीसरे दिन धूम से इस शुभ कार्य का आयोजन किया गया । तुलसी ने बड़े उत्साह से प्रभा को सजाया ।

जमींदार द्वारकानाथ के अन्तःपुर में उस दिन फिर सुन्दरियों का एक बहुत बड़ा दल एकत्र हुआ । रात्रि के भोजन से निवृत्त होने पर वे सब आ-आकर निर्दिष्ट स्थान पर जम गईं । परन्तु बारह बज जाने पर भी वर महोदय का दर्शन नहीं मिला । उन्हें खोजने के लिए बार-बार बाहर आदमी भेजा जाता और लौटकर आने पर वह कह देता कि वे कहीं बाहर गये हैं, लौटकर अभी तक नहीं आये । कोई क्रोध में आकर बड़बड़ाती हुई और कोई यों ही मुँह फुलाकर अपने घर चली गईं । कोई-कोई सुन्दरियाँ अपने रोते हुए दुधमुँहे बच्चे को सुलाने के विचार से लेटीं और तुरन्त ही खरगटे लेने लगीं । इस प्रकार उस उपेक्षित आयोजन को चरितार्थ करने के लिए केवल दो-चार सुन्दरियाँ जागती रह गईं । कहना न होगा कि तुलसी ही उन सबमें प्रधान थी ।

बड़ी देर के बाद देवनाथ को लिये हुए गृहिणी ललितादेवी ने प्रवेश किया । उन्होंने कहा—देखो, अब देरी न होने पावे, जल्दी-जल्दी जो कुछ करना है, कर लो । बहुत थका हुआ है बच्चा मेरा ! एक अनाथ स्त्री को हैजा हो गया था, उसी की सेवा में यह लगा था अभी तक ! अभी-अभी यह वहाँ से लौटा आ रहा है ।

सास के जाते ही एकाएक देवनाथ के ऊपर चारों ओर से व्यङ्ग और श्लेष के तीक्ष्ण बाण अविराम गति से टूटने लगे । परन्तु देवनाथ ने गम्भीरता का इतना प्रबल कवच धारण कर रक्खा था कि उस पर टकरा-टकराकर वे सभी चूर-चूर हो गये । इससे लुब्ध होकर स्त्रियों ने अन्यमनस्कभाव से आवश्यक अनुष्ठानों को समाप्त किया और वे सब वहाँ से चलती बनीं । प्रभा के मन में भी एक बार यह बात आई कि उन्हीं सबके साथ वह भी चली जाय । परन्तु बड़े क्लेश से उसने अपनी इस इच्छा का दमन कर लिया, वह यथास्थान बैठी ही रही ।

खूब सजा-सजाया कमरा था। उसमें एक बड़े से खाट पर दूध के समान साफ़-सुथरा और कोमल बिस्तर लगा हुआ था। उसी बिस्तर पर देवनाथ अपूर्व सुन्दरी घोडशी पत्नी के पास विराजमान था। आज उस रूप में उसे देखकर अखण्ड भूमण्डल का अधीश्वर भी उसके भाग्य पर कदाचित् ईर्ष्या किये बिना न रहता। भाग्य के अत्यन्त अनुकूल होने पर ही इस प्रकार का अनुपम सुख मनुष्य को प्राप्त होता है।

कमरे में जो बड़ा-सा आईना टँगा हुआ था, उसमें प्रकाश से प्रतिफलित होता हुआ अपना प्रतिबिम्ब प्रभा को दिखाई पड़ा। स्वर्ग की अप्सरा को भी प्रभाहीन करनेवाला अपना उस समय का सौन्दर्य देखकर प्रभा एकाएक काँप उठी। तुलसी पर उसे बहुत ही क्रोध आया। मन ही मन वह कहने लगी—उस दुष्टा ने क्यों मुझे इतने आकर्षक ढंग से सजा दिया? उसे उस समय कुछ भय भी मालूम पड़ने लगा। यदि कहीं तुलसी की ही बात सच हो जाय? सम्भव है कि मेरी ओर ताकते ही देवनाथ अपनी प्रतिज्ञा भूल जाय। अब तो उसके लिए यह कोई कठिन बात है नहीं। इसमें आपत्ति करने का अधिकार तो अब किसी को रहा नहीं। क्यों मैं इस तरह के मोहिनी वेश में सजने पर सहमत हो गई?

इस ओर भी प्रभा का ध्यान गये बिना नहीं रह सका कि देवनाथ ने जब से इस कमरे में प्रवेश किया है, तब से एक बार तिछ्छी निगाह से भी उसने उसकी ओर नहीं देखा। वह अपने नेत्र प्रायः सदा ही नीचे की ओर किये रहा। इससे प्रभा के हृदय की दुर्भावना बहुत कुछ कम हो गई। परन्तु एक अज्ञात आशङ्का से हृदय उसका थर-थर कर रहा था। उसके मन में रह-रहकर यह बात आती कि यद्यपि मैं इस गृह की अधीश्वरी हूँ, किन्तु फिर भी तो आज यह मेरा प्रभु है। मेरे ऊपर मानो इसका अब एक प्रबल अधिकार हो गया है।

सब लोगों के चले जाने पर इस एकान्त कमरे में जब केवल नवविवाहित दम्पती रह गये, तब देवनाथ ज़रा-सा हिला। उसे

क्रियाशील होते देखकर क्रोध और आतङ्क के कारण प्रभा भी भन्ना उठी। निमेष-मात्र में ही बिजली की छटा के समान वह भी उसकी विपरीत दिशा में खिसक गई। परन्तु उसके बाद ही अपने इस प्रकार के आचरण के कारण कुछ लज्जित-सी होकर प्रभा ने देखा कि मेरा यह भय अकारण है। देवनाथ खाट पर से उठकर खड़ा हो गया है। प्रभा इससे कुछ विस्मित होकर उसकी ओर ताकने लगी। परन्तु उसकी ओर दृष्टि किये बिना ही देवनाथ ने कहा—रात्रि अब अधिक व्यतीत हो गई है, तुम सो जाओ। खाट पर सोने का मुझे अभ्यास नहीं है। यहाँ मुझे निद्रा भी न आवेगी, इससे मैं अपने कमरे में जा रहा हूँ।

देवनाथ चलने ही को था कि प्रभा के मन में न जाने कौन-सी बात आ गई। ज़रा कुछ व्यग्रभाव से वह बोल उठी—इसी समय यदि बाहर चले जाओगे तो देखकर लोग मन में क्या सोचेंगे? ज़रा देर बाद जाना।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रभा ने इतनी आसानी से छुटकारा प्राप्त कर लेने की आशा नहीं की थी। परन्तु अब निश्चिन्त होकर वह इस सुख का उपभोग भी नहीं कर सकी। वह सोचने लगी कि अभी ही चारों ओर से कितनी स्त्रियाँ आकर जम जायँगी और अपना-अपना कौतूहल निवृत्त करने के लिए तरह-तरह के प्रश्न करने लगेंगी। यदि कहीं यह बात माता जी के कानों तक पहुँच गई तब तो वे आकर मुझे कहीं फटकार बतलाने न लगेँ। उस दशा में वे इन्हें फिर बुलाये बिना मानेंगी भी नहीं। यही सोचकर इच्छा न होने पर भी प्रभा ने देवनाथ को रोकने के लिए मुँह खोला।

देवनाथ रुक गया। परन्तु खाट पर वह बैठा नहीं। पास ही एक मखमली आसन पड़ा हुआ था, उसी को बिछाकर वह बैठ गया। यह देखते ही प्रभा के हृदय का सारा भार जाता रहा। देवनाथ के प्रति उसके मन में कृतज्ञता का भाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। वह जो कुछ चाहती थी, जो उसकी इच्छा हो रही थी, यह नीरव उपासक मुँह से कोई बात निकाले बिना ही वह सब करता जा रहा था। मानो प्रभा के हृदय पर लिखे हुए शब्दों को

पढ़-पढ़कर ही देवनाथ यह सब कार्य्य कर रहा था। यह देखकर प्रभा का विद्रोही हृदय बाध्य होकर ही देवनाथ के लिए ज़रा-सा कोमल हो उठा। इसी लिए अपने व्यवहार की असङ्गति भी एकाएक उसकी समझ में आ गई। पति के प्रति स्त्री का किस प्रकार का मनोभाव होना चाहिए, इस सम्बन्ध में माता ने उसे जो उपदेश दिया था, उस समय उसे वह भी स्मरण हो आया।

प्रभा ने पति की ओर ताका। उसकी दृष्टि प्रभा की ओर नहीं थी! कमरे की दीवार पर पञ्चवटी के कुटीर में बैठे हुए श्री रामचन्द्र और सीता जी का एक बड़ा-सा चित्र टँगा हुआ था। उसी चित्र पर देवनाथ का ध्यान एकाग्र-भाव से जमा हुआ था। उसके ठीक सामने टँगे हुए बड़े-से आइने में उसी की स्त्री के त्रिभुवन को मोहित करने की शक्ति रखने-वाले मुख का प्रतिबिम्ब खिले हुए कमल की-सी शोभा से युक्त होकर प्रतिबिम्बित था। समीप ही मानव-शरीर-धारिणी श्री के रूप में वह स्वयं भी विद्यमान थी। परन्तु तो भी इनमें से किसी की ओर वह ज़रा-सा दृष्टिपात तक नहीं कर रहा था।

प्रभा ने नीरव-भाव से ही अपने अधरों को दबाया। कदाचित् मन ही मन उसे ज़रा-सा क्रोध भी आया, ज़रा-सी हँसी भी आई। बाद को ज़रा-सा कौतूहल भी उदित होकर उसके हृदय को आन्दोलित करने लगा। अद्भुत आदमी है यह! ऐसा आदमी तो मैंने कभी देखा ही नहीं। प्रभा बार-बार उसकी ओर ताकने लगी। देवनाथ उस समय उसे ऐसा जान पड़ रहा था, मानो राजकुमार है, केलि-मन्दिर में आकर प्रविष्ट हुआ है। ऊँचे और चौड़े ललाट पर बिखरे हुए उसके मुलायम बाल स्वतः सुसज्जित हो गये थे। तपाये हुए सोने के समान गौर उसके शरीर का वर्ण था। बड़ी-बड़ी आँखें थीं, किन्तु उनकी दृष्टि शान्त थी, उज्ज्वल थी। देखते ही मालूम पड़ता था कि यह कोई अत्यन्त ही महिमा-सम्पन्न व्यक्ति है। प्रभा तो देखकर दङ्ग रह गई। तो क्या यह वह देवनाथ नहीं है? मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए घूमा करता था वह, उसके मुख पर दीनता का

सङ्कोच सदा वर्त्तमान रहा करता था। राजा के समान कान्तिमान् यह तरुण पुरुष क्या वही है ?

टनसे एक बज गया। बाहर आदमियों की आहट प्रायः कम हो चली थी। देवनाथ के दृष्टि फेरते ही प्रभा की उत्सुकतामयी दृष्टि से वह मिल गई। तत्काल उसने अपने नेत्रपल्लव को झुका लिया। प्रभा के गाल कुछ लाल हो उठे। क्यों, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। यह पहला अवसर था जब कि देवनाथ के समीप होने के कारण प्रभा ज़रा-सा लज्जित हुई थी। परन्तु ज़ोर देकर उसने उस लज्जा को दूर कर देने का प्रयत्न किया। सङ्कोच दूर करके उसने पति से पूछा—तुम कब जा रहे हो आसाम ?

ज़रा-सी नीरवता के बाद देवनाथ ने कहा—कल।

इतना कहकर देवनाथ उठ खड़ा हुआ। उसने कहा—अब मैं चलता हूँ। रात्रि बहुत अधिक व्यतीत हो गई है। अब तुम सोओ।

कोई बात सुनने की आशा तक न प्रदर्शित करके स्वाभाविक भाव में पैर बढ़ाता हुआ देवनाथ कमरे से निकल गया। तब मस्तक का कपड़ा हटाकर प्रभा तकिया के सहारे पड़ी-पड़ी सोचने लगी—आह, पिण्ड छूटा। इतने दिनों के बाद विवाह का झंझट दूर हुआ। सबेरा होते ही वह चलता बनेगा और जीवन भर के लिए एकदम से निश्चिन्त हो जाऊँगी मैं। अब बात ही कितनी देर की है ?

प्रभा आँखें मूँदे हुए बड़ी देर तक पड़ी रही। उसके बाद पलकें उठाकर उसने एक बार देखा। सामने ही वह बड़ा-सा आइना टंगा था। आइने में मायापुरी की राजकन्या के समान उसी का प्रतिबिम्ब था। अनिमेष नेत्रों से अपना ही प्रतिबिम्ब वह देखती रही। देखते-देखते अकस्मात् एक लम्बी साँस उसने ली।—सब लोग कहते हैं कि मैं सुन्दरी हूँ ! मेरा यह रूप देखने में वैसा बुरा भी तो नहीं है ! अच्छा, यह किस तरह का आदमी है ? एक बार भली भाँति दृष्टि डालकर

देख भी नहीं लिया उसने ! मानो मेरी परवा तक नहीं है उसे, इतना उदासीनतामय था उसका भाव !

मनुष्य का चरित्र कितना जटिल होता है। अपने उदासीन भाव तथा गम्भीरता का परित्याग करके देवनाथ का बातचीत करना तो दूर रहा, यदि वह प्रभा के अधिक समीप जाकर जरा देर तक बैठता या उसके ऊपर कुछ समय तक केवल अपनी मुग्ध दृष्टि ही स्थापित किये रहता तो प्रभा उसके कारण कितना बुरा मानती और उसे थोड़ी-बहुत फटकार तक बतलाने में आना-कानी करती या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसा न होकर मामला जब और रूप में आया तब शायद प्रभा की मनोवृत्ति भी बदल गई। देवनाथ ने जिस प्रकार का आचरण किया था, उसके कारण प्रभा का मन एक ओर तो कृतज्ञता से लबालब भरा जा रहा था, दूसरी ओर देवनाथ की अत्यधिक सतर्कता प्रभा के आत्माभिमान पर कुछ आघात भी पहुँचाने लगी थी। मन ही मन वह कहने लगी—क्या मैं इस प्रकार नगण्य हूँ कि मेरे स्वामी ने एक बार दृष्टि उठाकर मेरी ओर देखा तक नहीं ? रात्रि में बड़ी देर तक पड़ी-पड़ी वह सोचती रही। इस विचार ने उसे बहुत ही लुब्ध कर दिया था।

दूसरे दिन एक गाड़ी पर बैठकर देवनाथ स्टेशन की ओर रवाना हो गया। सास ललितादेवी बहुत रोईं, तरह-तरह से रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु लाख आपत्ति करने पर भी आँसू पोंछकर उन्हें दामाद की यात्रा की तैयारी करनी ही पड़ी। परन्तु इच्छा न होने पर भी देवनाथ उनकी दी हुई बहुमूल्य सामग्रियाँ, वस्त्र, आभूषण, विस्तर तथा पात्र आदि, छोड़कर नहीं जा सका। द्वारकानाथ भी दामाद के इतनी शीघ्रता से बिदा हो जाने के कारण दुखी न हुए हों, यह बात नहीं थी। परन्तु ललितादेवी की तुलना में द्वारकानाथ का दुःख एक प्रकार से नहीं के बराबर था। कारण यह था कि द्वारकानाथ के हृदय में धनी-दरिद्र का भेद-भाव पूर्ण मात्रा में मिश्रित था। माता के हृदय की आन्तरिक और कृत्रिमता से रहित स्नेह-राशि तो उनके

हृदय में वर्त्तमान थी नहीं। वे चाहते थे कि यह दरिद्र पुजारी कम से कम थोड़े दिनों तक दूर ही दूर रहे। बाद को कुछ दिनों में बड़े आदमी का-सा जीवन व्यतीत करने का अभ्यास कर लेने के बाद वह जब यहाँ फिर लौटकर आवेगा, तब तक यहाँ वालों को भी पुरानी बातें बहुत कुछ भूल जायँगी। इधर देवनाथ की अवस्था के साथ ही साथ प्रभा के मनोभाव में भी परिवर्त्तन हुए बिना न रहेगा। इस प्रकार देवनाथ कुछ दिनों के लिए यहाँ से चला जाय और बाद को आकर यहाँ रहना आरम्भ करे तो हर प्रकार से अच्छा ही है। परन्तु द्वारकानाथ के बार बार आग्रह करने पर भी खर्च के लिए जब उसने कुछ रुपया-पैसा लेना न स्वीकार किया और बहुत ही विनम्र तथा दृढ़ भाव से वह बार बार उनके प्रस्ताव का प्रत्याख्यान ही करता गया तब उनका हृदय एक अपूर्व विस्मय से पूर्ण हो उठा।

द्वारकानाथ सोचने लगे—एक कौड़ी भी जिसके पास नहीं है, उसके लिए दो-दो सौ रुपया मासिक कुछ कम नहीं है। इन दो सौ रुपयों के लिए उसे किसी प्रकार का परिश्रम नहीं करना है, किसी प्रकार के अनुचित उपाय का अवलंबन नहीं करना है। एक आत्मीय का यह स्वेच्छा-दान है, बहुत ही आदर, बहुत ही सम्मान के साथ दिया गया उपहार है। परन्तु वह इसे स्वीकार नहीं है। साथ में यह एक रसोइया और एक कहार तक नहीं रखना चाहता। कहता है, जैसे आज तक बीतता आया है, वैसे ही बीतता जायगा! सुख-दुःख का इसे ध्यान नहीं है, यश की आकांक्षा नहीं है, ऐश्वर्य्य से यह दूर भागता है। धन ही इस संसार का सार है, परन्तु उसकी ओर से भी यह निःसृह है। इस तरह का कामनाहीन, इस तरह का निर्लिप्त मनुष्य तो मैंने आज तक देखा नहीं। सोचते-सोचते कुछ क्रोध के साथ ही साथ देवनाथ के प्रति उनके हृदय में कुछ श्रद्धा भी उत्पन्न हुई।

गाड़ी पर बैठकर देवनाथ जब स्टेशन की ओर रवाना हो गया और चलते समय प्रयत्न करने पर भी प्रभा एक बार उसका मुख देख

लेने में समर्थ न हो पाई, तब उसके तीक्ष्ण और उज्ज्वल नेत्रों में मानो विषाद की एक मलिनता विकसित हो आई। उसने यह स्थिर कर रक्खा था कि विवाह की समस्त विधियों के समाप्त होते ही मैं सदा के लिए निश्चिन्त हो जाऊँगी। अतएव इस अवसर की प्रतीक्षा वह कितनी व्यग्रता के साथ कर रही थी। परन्तु आज उसका वह अभीप्सित समय आ तो गया परन्तु कहाँ हो पाई वह उतनी सुखी ! उस समय तो हृदय में एक अद्भुत अधीरता उत्पन्न होकर उसे व्याकुल कर रही थी। उसके कल्पना-रूपी नेत्रों के सामने पति का शान्त मुख नाचता हुआ दिखाई पड़ने लगा। मन में आया कि दौड़कर वह उन्हें लौटाल लेने के लिए मा से कह दे।

प्रभा एकान्त में बैठी ही अपनी अवस्था तथा पति के आचरण पर बड़ी देर तक विचार करती रही। उसके मन में एकाएक यह बात आई—तो क्या ये वही व्यक्ति हैं, जो एक दिन पेट भर भोजन प्राप्त करने की आकांक्षा से हमारी पाठशाला में प्रविष्ट होने के लिए आये थे ? परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि पिता जी के आन्तरिक अनुरोध के बाद भी केवल उतना ही पैसा उन्होंने लिया, जितना मार्ग-व्यय के लिए उन्हें आवश्यक था। उसके अतिरिक्त एक पाई भी उन्होंने नहीं ली। इतना तेज एक निर्धन आदमी का ! इतनी सावधानी मर्यादा का पालन करने के सम्बन्ध में ! यह सब सोच-सोचकर प्रभा अवाक् होती जा रही थी।

ज़रा-सा इधर-उधर करने के बाद प्रभा की विचार-धारा फिर जारी हुई।—इस तरह की आशा तो मैंने स्वप्न में भी कभी नहीं की थी ! मैं तो उन्हें साधारण श्रेणी के लोगों से भी कम समझती थी। परन्तु अब जान पड़ता है कि बात शायद वैसी नहीं है। वे तो बहुतों से बहुत ऊँचे जान पड़ते हैं। उनका जो इस तरह का निरीह भाव है, वह मानों उन्के भीतर के प्रचण्ड तेज का आवरण भर है ! यदि मैं यह कहूँ कि वे नितान्त ही बुद्धिहीन हैं, उचित-अनुचित के ज्ञान से हीन हैं, तो यह मेरा

पागलपन होगा। कितनी सतर्कता के साथ इतना बड़ा कार्य समाप्त करके चले गये वे और किसी भी ढंग से किसी को इस बात का आभास तक पाने का अवसर उन्होंने नहीं दिया कि मेरे और उनके बीच में सदा के लिए एक दूसरे से पृथक् रहने की शर्त हो जाने के बाद हम दोनों का विवाह हुआ है। सोचते-सोचते प्रभा का हृदय काँप उठा।—आह ! तो आज से आजन्म के लिए मेरे उनके सम्बन्ध का अन्त हो गया ?

प्रभा आज पति की विवाह के समय की सतर्कता पर विचार करते करते अत्यन्त ही विस्मित होती जा रही थी। वह सोचने लगी—विवाह के समय पास-पास रहकर भी उन्होंने भूल कर भी मेरे वस्त्र से अपने वस्त्र तक का स्पर्श नहीं होने दिया। परन्तु इस अवस्था में भी मेरे साथ विवाह करने पर वे क्यों सहमत हुए ? क्या मेरे पिता के विभव के लोभ से उन्होंने ऐसा किया है ? परन्तु आरम्भ से ही उन्होंने इस तरह का संयत भाव प्रदर्शित करना आरम्भ किया है कि धन-विभव की स्पृहा का तो लेश भी इनके हृदय में नहीं दिखाई पड़ता। मैंने या मेरे परिवार के और किसी व्यक्ति ने इनके साथ कभी कोई ऐसा सव्यवहार भी नहीं किया था जिसके लिए कृतज्ञता का मूल्य चुकाने के विचार से इन्होंने ऐसा किया हो ? हम लोगों ने तिरस्कारपूर्वक अपने यहाँ से उन्हें बहिष्कृत ही तो कर दिया था ! तब कौन-सी ऐसी बात है, कौन-सी आशा है, जिसके कारण अपनी इतनी अस्वाभाविक प्रतिज्ञा का पालन करके चुपचाप वे चले गये ? यह क्या उनकी दया है ?

क्षण भर के लिए प्रभा का मुँह लाल हो उठा।—क्या ?—दया ?—हाँ दया ही है। बुरा मानने की इसमें कौन-सी बात है ? उस समय हम सभी लोग तो दया की प्रार्थना करने गये थे उनके पास। दयालु हैं वे, दया का पात्र समझकर उन्होंने हम लोगों का उपकार कर दिया, उसके बाद अपनी राह ली।—तो आज मैं उनकी दया के मूल्य में बिक चुकी हूँ ? आज मैं मनोहरपुर के ज़मींदार-वंश की उत्तराधिकारिणी हूँ अवश्य, किन्तु यह अधिकार अब मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं रह गया

है। आज अपने बाल्यकाल के परिचित इस स्थान में जो मैं बैठी हूँ, यह उन्हीं की कृपा से प्राप्त हुआ है, यह बात दिन के प्रकाश के समान ही स्पष्ट है।

प्रभा दोनों हाथों से मुँह ढक कर बैठ गई।—तो यह सब मेरे स्वामी का ही दान है ? हा ! गोपीनाथ, तुमने हमारी यह अवस्था कैसे कर दी ? वही मूर्ख पुजारी, जिसे पूजा की विधि तक नहीं मालूम थी, अपने पक्ष का समर्थन तक करने की योग्यता जिसमें नहीं थी, आज मेरा रक्षक, मेरा अन्नदाता, मेरा स्वामी बन बैठा है ! और आज वह मेरी ही आग्रहपूर्ण व्यवस्था के कारण, मेरे ही आदेश से, आजन्म के लिए निर्वासित है ! जीवन में वह फिर लौटकर मेरे पास न आवेगा।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रोग-शय्या का परित्याग करके उमादेवी ने जैसे ही ज़रा-सा चलना-फिरना आरम्भ किया, वैसे ही मनोरमा ने अपना पहले का ही स्थान फिर ग्रहण कर लिया। भाण्डार-गृह के द्वार पर बैठी-बैठी उमादेवी आदेश करती जातीं और मनोरमा उत्तमता के साथ सारे काम-काज करती रहती। जब भोजन बनाने का समय होता तब भी वे आकर रसोईघर के द्वार पर एक पाटा रखकर दीवार के सहारे से बैठ जातीं। वे लोई काट-काटकर देती जातीं, मनोरमा बेलकर आवश्यकतानुसार तवा पर या कड़ाही में डाल देती। इससे मदनमोहन बड़े सङ्कट में पड़ गया। मनोरमा से अकेले में कभी उसकी मुलाकात ही नहीं होती थी। जब कभी संयोगवश उससे उसका सामना हो भी जाता तब वह बग़ल से होकर निकल भागती, इतना अवसर वह कभी नहीं देती थी कि उससे कुछ कहा जा सके।

एक दिन भोजन करते समय मदनमोहन ने कहा—दीदी, अभी तक शरीर तुम्हारा सँभल नहीं पाया है। परन्तु फिर भी तुम सदी खाती रहती हो ! यह क्या तुम कोई अच्छा काम कर रही हो ? यदि कहीं फिर तबीअत खराब हो गई तब तो बड़ा कठिन हो जायगा।

दीदी कटोरे में गरम दूध उँडेलकर उस समय पंखे की हवा से उसे ठंढा कर रही थीं। उन्होंने कहा—रोग से मैं नहीं डरती हूँ भाई ! मुझे यदि कुछ भय है तो तुम्हारे डाक्टरों और वैद्यों से। रोग होने पर तुम लोगों की गोद में मस्तक रक्खे हुए निश्चिन्त होकर प्राण-त्याग कर सकूँ, इसका तो डौल है नहीं, दुनिया भर की दवायें खिला-खिलाकर अच्छी कर लोगे। भय मुझे केवल इसी बात का है। अन्यथा हिन्दू विधवा को रोग या मृत्यु से क्या भय ?

मदनमोहन ने हँसकर कहा—अच्छा, जब मरने पाओगी ही नहीं, तब निरर्थक रोग को क्यों निमन्त्रण दे रही हो ? क्या सदा तुम्हीं को हाड़ तोड़ते रहना होगा ? और कोई करनेवाला है ही नहीं ?

प्राणों की बाज़ी लगाकर मनोरमा ने उमादेवी की जो सेवा की थी, उसे वे अभी तक भूल नहीं पाई थीं। इसी लिए व्यस्त भाव से इस बात का प्रतिवाद करती हुई वे बोलीं—नहीं, नहीं, मैं क्या करती हूँ अब ? आज-कल उसी ने तो अपने ऊपर गृहस्थी का सारा भार ले रक्खा है। तेरे भोजन का समय जब होता है तब यहाँ आकर मैं बैठी भर रहती हूँ। अकेला तू भोजन कर लेगा ? क्या चाहिए, क्या न चाहिए, यह सब ज़रा-सा देखना तो होगा !

“नहीं, नहीं, वह सब हो जायगा, उसके लिए तुम चिन्ता मत करो। कल से रात्रि में तुम नीचे न उतरा करो।”

“पागल तो नहीं हो गया है तू ! जब तक जीवित हूँ मैं, तब तक मुझसे तेरी ज़रा-सी भी असुविधा न देखी जायगी। इस तरह पड़गु होकर बैठी रहने की अपेक्षा तो मरना ही अच्छा है !”

मदनमोहन क्षुब्ध भाव से भोजन से निवृत्त हुआ। मन ही मन उसने सोचा कि दीदी नामधारी जीव का ज़रा कुछ कम प्यार करना भी किसी-किसी समय वैसा बुरा नहीं होता। कुछ दूर जाकर वह फिर लौटा और कहने लगा—बाहर के कमरे में बहुत अधिक सील है। इधर एकाएक सर्दी बढ़ गई है। उस दिन डाक्टर साहब भी गरम कमरे में सोने को कह गये हैं। इससे मेरा विचार है कि आज जाकर मुरारीलाल के बँगले में सोऊँ ! कई कमरे खाली पड़े रहते हैं उनके बँगले में।

भाई आजकल रात्रि में घर से बाहर नहीं निकला करता, यह बात उमादेवी से अज्ञात नहीं थी। इधर कई दिनों से वे ऐसी भी व्यवस्था करने का विचार कर रही थीं कि बहू से वह मिल-जुल सके। परन्तु इस आशङ्का से कि जल्दी करने से कहीं फिर न कुछ गड़बड़ हो जाय, उन्होंने अपना विचार स्थगित कर दिया था। आज भाई के इस प्रस्ताव से

उनके मन की शङ्का फिर जाग्रत् हो उठी। उन्होंने कहा—यहाँ कमरे का तो अभाव है नहीं जो दूसरे के यहाँ सोने के लिए जाना होगा। वह जिस कमरे में सोती है, वह भी तो बहुत बढ़िया कमरा है, उसी में तुम्हारे सोने की व्यवस्था किये देती हूँ।

मदनमोहन बहुत ही लज्जा का अनुभव करने लगा। मन ही मन उसने कहा—पता नहीं दीदी ने क्या समझा हो? मुँह से कोई बात न निकालकर दबे-पाँव से वह उस कमरे में गया और खाट पर लेट गया। एक गिलास में जल लेकर मनोरमा उस कमरे में रखने गई। कमरे में प्रवेश किये बिना ही हाथ बढ़ाकर उसने गिलास भीतर रख दिया और लौटने लगी। उसे इतनी उतावली के साथ भागती हुई देखकर मदनमोहन ने कहा—मैं भूत तो हूँ नहीं जो इस तरह डरकर भाग रही हो! आओ, ज़रा-सा गप-शप की जाय!

मनोरमा ने मुँह ऊपर उठाया। परन्तु मदनमोहन की आग्रहपूर्ण दृष्टि उसी की ओर जमी हुई थी, इससे स्वतः उसकी आँखें नीची हो गईं। हँसकर वह कहने लगी—अभी तो मरने तक को मुझे अवकाश नहीं है। कितने काम पड़े हैं अभी करने को।

मदनमोहन खाट पर से उठ खड़ा हुआ। ज़रा-सा आगे बढ़कर कातर भाव से उसने कहा—मैंने तुमसे बहुत बड़ा अपराध किया है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु क्या मेरा अपराध क्षमा ही नहीं किया जा सकता? देखो, तुम्हारे ही लिए मैंने फिर से मनुष्य बनने का निश्चय किया है।

मनोरमा के शान्त नेत्रों में अत्यधिक आनन्द की रेखा उदित हो आई। मन में तो उसके यही आया कि इसी समय जी खोलकर खूब रो लूँ और स्वामी के गले से लिपटकर कहूँ—मेरा क्या ऐसा भी भाग्य है? परन्तु उसने अपने आपको सँभाल लिया। दृढ़ स्वर से उसने कहा—तुम्हारी मैं बहुत ही कृतज्ञ हूँ, यह तो तुम जानते ही हो! मेरे पिता जी का तुमने बहुत बड़ा उपकार किया है। मुझे भी भोजन-वस्त्र दिया करते हो।

तुम्हारे प्रति ज़रा भी रोष का भाव मेरे हृदय में नहीं है। परन्तु उस दिन तुमने कहा था न कि अब मेरी मित्रता की आवश्यकता तुम्हें नहीं है। इसलिए आज-कल तुमसे मिलती-जुलती नहीं हूँ। परन्तु यदि तुम—

क्रोध से जलकर मदनमोहन ने कहा—नहीं, नहीं, मैं तुम्हारी मित्रता नहीं चाहता। तुम नहीं मिला करती हो तो न सही, मेरे दिन तो बीत ही जाया करते हैं किसी तरह। जाओ, तुम अभी जाओ, इससे मेरा कुछ होना-जाना नहीं है।

मनोरमा चुपचाप चल पड़ी। उसके साथ ही साथ मदनमोहन भी कमरे से निकल आया और व्यग्र भाव से बोला—मुनो, ज़रा सुनकर जाओ, जाओ मत। परन्तु अन्धकारपूर्ण बरामदे में वह कहाँ अदृश्य हो गई, इस बात का मदनमोहन को पता तक न चला।

मनोरमा के उस दिन के व्यवहार से मदनमोहन का चित्त बहुत दुखी हुआ। तीव्र अभिमान के कारण कई दिनों तक उसका हृदय जलता रहा। वह स्वयं भी मनोरमा से दूर-दूर रहा। जी में आया कि इसका बदला लेना तो मेरे बायें हाथ का खेल है। मेरी जोहरा अभी कहीं गई तो है नहीं। परन्तु मित्रों का दल एकत्र होकर अपनी समस्त सम्मोहन-शक्ति का विस्तार करके उसे लुभाने के लिए जब आया, तब मनोरमा की भोली-भोली आँखों ने हृदय में उदित होकर उसे जीत लिया। विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य अलङ्कारों से सुशोभित जोहरा की रूप-राशि मदनमोहन को मनोरमा के सामने बहुत ही फीकी, बहुत ही प्रभाहीन मालूम पड़ने लगी।

मदनमोहन ने समय काटने के लिए अब साहित्य-सेवा की शरण ली। कुछ ही दिनों में उसकी कविताओं, कहानियों तथा लेखों की धूम मच गई। एक-एक पत्र-सम्पादक उसकी रचनायें प्राप्त करने के लिए आन्तरिक आग्रह प्रकट करने लगे। परन्तु मदनमोहन को यह सब अच्छा नहीं लग रहा था। जिसके लिए यह पूजा का आयोजन किया गया था, वही यदि ध्यान के आसन पर आकर एक साथ नहीं बैठी तब नाम ही किस

काम का और यश से ही क्या लाभ ? सन्तोष तो उसे केवल उसी की प्राप्ति से होना सम्भव था ।

मदनमोहन की अलौकिक प्रतिभा, उसके अदम्य उत्साह तथा दृढ़ता-पूर्ण अध्यवसाय के सम्बन्ध में तो किसी को किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं था । जिस ओर उसकी प्रवृत्ति होती, उसी ओर अपनी अद्भुत क्षमता प्रदर्शित किये बिना वह न रहता । पहले जिस प्रकार पतन की खोह में बिलकुल नीचे तक पहुँच गया था वह, उसी प्रकार उन्नति के शिखर की ओर भी अब वेग से अग्रसर होने लगा । घर में जितनी कुरुचिपूर्ण सामग्रियाँ थीं, उन सबको उसने फेंक दिया । अन्तःपुर का जो अंश इतने दिनों तक उपेक्षित भाव से पड़ा था, उसकी उसने उत्तम ढङ्ग से मरम्मत करवाई, मनोरमा के लिए बहुत-से उत्तम श्रेणी के आभूषण खरीद ले आया और उस दिन की व्याकुल भाव से प्रतीक्षा करने लगा जब कि उसे अपने हाथों से सजाने का अवसर मिलता ।

मनोरमा मदनमोहन से बराबर दूर ही दूर रही । परन्तु दूर से भी वह बेचारी अपने स्वामी पर किस प्रकार की मोहनी माया का प्रयोग कर रही थी, यह वही जान सकती थी । अथवा, बहुत सम्भव है कि वह स्वयं भी न जानती रही हो । इसका ज्ञान केवल उस भाग्यहीन मदनमोहन को ही रहा हो ।

सवेरे से लेकर डेढ़ पहर रात्रि तक मनोरमा बराबर काम में लगी रहती । न तो उसे थकावट आती और न वह परिश्रम से घबड़ाती । कितने प्रकार से वह कमरों को सजाया करती, कितने प्रकार के भोजन बनाती, कितने प्रकार की मिठाइयाँ बनाती । मदनमोहन आड़ से ही चूल्हे के सामने बैठी हुई मनोरमा की आनन्दमयी मूर्ति को देखता, मानो विश्व-लक्ष्मी अन्नपूर्णा स्वयं इस धराधाम में अवतीर्ण हो आई हैं और समस्त जगत् की लुधा शान्त करने के लिए यह विशाल आयोजन आरम्भ कर रक्खा है उन्होंने ।

मनोरमा दूर-दूर रहकर भी मदनमोहन के लिए सभी प्रकार की सुवि-
फा० ६

धायें करती रहती, उसे केवल इतना अवसर नहीं देती थी कि वह उसके सामने उपस्थित होकर कहे—हे कर्मलक्ष्मी, अपने हृदय के साम्राज्य में मैंने तुम्हारा अभिषेक कर लिया है, अभी तक मैंने जितना भी विद्रोह किया, उसका सब अब अन्त हो चुका है, अब मैं तुम्हारे सामने पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर रहा हूँ ।

एक दिन मदनमोहन को मनोरमा से अपने हृदय की बात कहने का अवसर एकाएक मिल गया । दीदी उस समय दोपहरी की निद्रा में मग्न थीं । नौकर-चाकर भी इधर-उधर होकर अपना काम कर रहे थे । एक क्षण भी बेकार न बैठनेवाली बहू अकेली विश्राम की चिन्ता छोड़कर थोड़ी-सी पकी इमलियाँ लिये हुए उन्हें काट रही थी । ठीक उसी समय मदनमोहन जाकर द्वार के पास खड़ा हुआ । मनोरमा की दृष्टि उस पर पड़े बिना नहीं रह सकी, यद्यपि वह चतुरतापूर्वक गम्भीर ही बनी बैठी रही और जो कार्य उसने आरम्भ कर रखा था, उसमें विराम नहीं होने दिया ।

मदनमोहन भी मनोरमा का मनोभाव ताड़ गया । ज़रा आगे बढ़कर हँसते हुए उसने कहा—सुनते हो मित्र, कल मैं नौकरी करने के लिए कलकत्ता जा रहा हूँ । एक पत्र-सम्पादक ने सहायक सम्पादक का पद स्वीकार करने के लिए आग्रह करते हुए उसे जो पत्र लिखा था, वह उसने मनोरमा के सामने रख दिया ।

नौकरी की बात सुनते ही मनोरमा एकाएक चौंक पड़ी और पाँसुल लग जाने के कारण हाथ की एक उँगली का ज़रा-सा अंश कट गया ।

“अहा ! यह क्या किया ?” उतावली के साथ आगे बढ़कर मदनमोहन ने मनोरमा के हाथ की वह उँगली पकड़ ली । मनोरमा की अनुनय-पूर्ण आपत्ति पर भी अपनी धोती का ज़रा-सा अंश फाड़कर मदनमोहन रक्त बन्द करने के लिए पट्टी बाँधने बैठा । उसके मन में यह बात अवश्य आ रही थी कि कपड़ा भिगोकर पट्टी बाँधने से अधिक उपकार होगा, किन्तु मनोरमा का हाथ छोड़कर जाने की उसकी इच्छा

नहीं हो रही थी। उसे आशङ्का थी कि हाथ छूटने ही कहीं यह चलती न बने।

स्वामी के हाथ में अपना घायल हाथ छोड़कर मनोरमा लज्जा का भी अनुभव कर रही थी और उसे आनन्द भी आ रहा था। मुँह उसका लाल हो उठा था। हाथ को छुड़ाने के लिए खींचातानी करने में उसे कुछ श्रम भी न पड़ा हो, यह बात नहीं थी।

मनोरमा ने उतावली के साथ दृष्टि बढ़ाकर एक बार स्वामी की ओर देखा। स्वामी के मुख का भाव देखने पर उसे ऐसा मालूम पड़ा कि मानों उसके हाथ में जो ज़रा-सी चोट लग गई है, उसके कारण वे बहुत दुःखी हुए हैं। वह सोचने लगी कि इतनी छोटी-सी बात के लिए वे इस प्रकार दुःखी हैं ! उनका मन दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए ज़ोर देकर लज्जा और सङ्कोच का परित्याग करके वह बोली—क्या सचमुच कल जाओगे ?

“हाँ, निश्चय तो यही किया है ! और जब निश्चय कर लिया है तो चला ही जाऊँगा। यहाँ मेरा कौन ऐसा बैठा है जो रोकेंगा ?”

मनोरमा ज़रा-सा हँसी। परन्तु साथ ही साथ उसकी दृष्टि में कुछ करुणा का भी उद्रेक हो आया। गाढ़ स्वर से वह बोली—उत्तम कार्य करने से भला रोकना उचित है ?

“यह तो ठीक है। परन्तु यदि कोई आत्मीय होता है, तो वह रोकता ही है, कहता है कि दो दिन बाद जाना। सम्भव है कि वहाँ स्वयं रोटी ठोंके बिना भोजन न मिले। अपने हाथ से ही चौका-वर्तन करना पड़े, यदि कहीं बीमार हो जाऊँ तो बूंद भर पानी देनेवाला भी कोई न हो। परन्तु इन्हीं सब बातों पर विचार करने की किसे पड़ी है ?”

मदनमोहन का मुँह बहुत ही गम्भीर हो उठा था। वेदना से भरी हुई उसकी ये बातें सुनकर मनोरमा ने एक व्यथापूर्ण आह भरी और

अपनी दृष्टि नीची कर ली। स्वयं भी बहुत ही व्यथित होकर उसने कहा—“नहीं, नहीं, यदि ऐसी बात हो तो तुम मत जाओ।

“न जाऊँ ? यह कैसी बात कह रही हो तुम ? पुरुष का जन्म पाया है मैंने ! क्या आजन्म घर के कोने में पड़े-पड़े बहन के पैसों की बदौलत ही दिन काटता रहूँ ? यह भी क्या कोई अच्छा काम है ?

“नहीं।” मनोरमा ने अपने नेत्रों की सरल दृष्टि पति के मुख पर जमा दी।

“तो क्या तुम भी मेरी सहायता के लिए चलोगी ?”

“यदि तुम यह समझोगे कि मेरा चलना आवश्यक है तो मैं क्यों न चलूँगी ? किन्तु—”

“क्या ? क्या ? कहती क्यों नहीं हो ? किन्तु क्या ?”

मनोरमा एकाएक हँस पड़ी। उसने कहा—“लोगों से क्या कहोगे ? मित्र ?”

“फिर वही ? मैंने कह दिया है न कि तुम्हारे मुँह से वह शब्द मैं नहीं सुनना चाहता हूँ।”

मनोरमा मुस्करा रही थी। मुस्कराती ही मुस्कराती वह बोली—भला तब मैं किस प्रकार तुम्हारे साथ चलूँ ? तुम तो कहते हो कि मैं तुम्हारी मित्रता भी नहीं चाहता हूँ !

“नहीं, मैं तुम्हारी मित्रता नहीं चाहता। मैं स्वयं तुम्हें चाहता हूँ। मनोरमा, मेरे जीवन की गति परिवर्तित करके तुमने मुझे नवजीवन दान किया है ! तुम्हें मैं कल्याणी गृहलक्ष्मी के रूप में अपने जीवन के साथ दृढ़ बन्धन में बाँधना चाहता हूँ। नहीं, नहीं, दूर मत हटो, मेरा सब मोह कट गया है। तुम्हारे पुण्य के प्रभाव से मेरे मन का सारा अन्धकार, सारा कल्मष दूर हो गया है। आज मेरे जीवन का प्रभात है। मनोरमा, आज तुम मेरे इस नवजीवन की अधिष्ठात्री देवी हो। आओ, मेरे समीप आओ, मुझे अपने पास खींच लो। आओ, आज हम दोनों एक हो जायें। —ओह, यह क्या ? तुम जाती कहाँ हो ? दीदी आ रही

हैं तो क्या हानि है ? वे यह देखकर मुग्ध हो जायँगी कि आज मेरे इस उच्छृङ्खल भाई ने लक्ष्मी को प्राप्त किया है ।

मनोरमा मुख पर घूँघट खींचकर दूर हट गई थी । उसकी झीनी साड़ी की आड़ में नेत्रों में उदित हो आये आनन्द के आँसू सीपी के गर्भ में मुक्ता-बिन्दु के समान सुशोभित हो रहे थे ।

मनोरमा के समीप जाकर दीदी ने कहा—क्यों बहू, यह क्या ? मदन अब पहले का-सा है नहीं । तुम्हारे गुणों से प्रभावित होकर वह नया आदमी बन गया है । नहीं, छिः, आँसू पोंछ डालो । आओ मदन, आज ही तुम दोनों का यथार्थ विवाह है । तुम दोनों ही को एक दूसरे के हाथों में सौंपकर आशीर्वाद दे जाऊँ ।—तुम दोनों चिरजीवी होकर गृहस्थी का सुख भोगो, भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें ।

सोलहवाँ परिच्छेद

दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह और मास पर मास बीतने लगे । प्रभा के विवाह के बाद काफ़ी समय बीत गया । राधाकृष्ण के मन्दिर में पूजा का क्रम वैसा ही रहा । पुजारी आद्याप्रसाद घंटा बजा-बजाकर तथा पञ्चप्रदीप हिला-हिलाकर आरती किया करता, प्रभा बैठी बैठी देखा करती परन्तु आद्याप्रसाद का ध्यान इस ओर प्रायः जाया करता कि प्रभा का मन अब पहले की तरह केवल इस मन्दिर के ही भीतर नहीं बँधा है । उसकी दृष्टि अब भावहीन हो गई है, आँखें उसकी पुतली की-सी हो गई हैं । पूजा की सामग्रियाँ सजाने में भी आजकल वह प्रायः भूल कर जाया करती । पूजा या आरती के समय उसके शिथिल हाथ से चमर गिरकर पूजा में रत पुजारी को चकित कर देता, इससे पूजा में विघ्न उपस्थित हो जाता और असहिष्णु पुजारी के मुख पर विरक्ति का भाव उदित हुए बिना भी न रहता ।

इधर सास ललितादेवी दामाद के लिए बहुत ही व्याकुल थीं । वे पति से बार-बार पूछतीं कि हमारा देवनाथ कब आवेगा ? द्वारकानाथ गम्भीर मुख से उत्तर दिया करते—वह अभी नहीं आ सकता । बड़ा काम है उसे । तीन-तीन पाठशालाओं की व्यवस्था करनी है । वे पाठशालायें भी काफ़ी दूर-दूर हैं । उसे बिलकुल अवकाश नहीं मिलता ।

ललितादेवी को इससे सन्तोष न होता । वे कहतीं—उसे इस बात की चिन्ता तो है नहीं कि परिश्रम करके चार पैसे उपार्जन किये बिना परिवार का पालन करना सम्भव नहीं है । फिर उसे क्या पड़ी है कि इसी अवस्था में वह अकारण निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहा है ।

कई महीने के बाद डाक से आया हुआ एक साप्ताहिक पत्र खोलकर देखते ही द्वारकानाथ चकित हो गये । उसमें लिखा था—मनोहर-

पुर के सुप्रसिद्ध भक्त ज़मींदार रमानाथ त्रिपाठी के पुत्र द्वारकानाथ त्रिपाठी के एकमात्र जामाता तथा उनके अतुलित वैभव के अधिकारी श्रीमान् देवनाथ शुक्ल आसाम प्रदेश के भिन्न-भिन्न स्थानों में चार संस्कृत-पाठशालायें स्थापित करके देशवासियों के सम्मुख एक बहुत उच्च आदर्श स्थापित कर रहे हैं। वर्त्तमान युग में इस देश में प्रसिद्ध व्यक्तियों की संगमरमर की मूर्तियाँ तथा टाउन-हाल आदि की स्थापना करने की ओर देशवासियों की जितनी प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है, उतनी प्रवृत्ति संस्कृत-शिक्षा की ओर नहीं दिखाई पड़ती। यही कारण है एक धनवान् युवक के द्वारा किया गया देव-भाषा की इस प्रकार की निष्ठापूर्ण सात्विक पूजा का आयोजन देखकर यथार्थ आनन्द और आशा से चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। देवनाथ ने इन संस्कृत-पाठशालाओं में व्याकरण के अतिरिक्त न्याय, सांख्य, योग और वेदान्त आदि सभी विषयों के अध्यापन की व्यवस्था की है और यथा-संभव उत्तम से उत्तम व्यवस्था की है। वे स्वयं भी संस्कृत के एक उद्भट विद्वान् हैं, किन्तु यथार्थ ज्ञानी का प्रधान चिह्न-स्वरूप उनका जो पांडित्य है, वह शान्त-सलिला जाह्नवी के ही समान स्थिर, धीर और प्रशान्त है। उसमें बाढ़ के मटमैले पानी की तरङ्गों की सी गन्दगी नहीं है। लम्बा-सा सुडौल, गौर वर्ण का शरीर है उनका, अहङ्कार और छल-प्रपञ्च से हीन बातें होती हैं उनकी। इस प्रकार अपनी सौम्य मूर्ति तथा मधुर वाणी के कारण वे प्रायः सभी के अन्तस्तल तक पहुँच जाया करते हैं। दीन-दुखियों के प्रति तो उनके हृदय में अपार स्नेह है। यदि कोई अनाथ या दुःख-दरिद्रता से पीड़ित व्यक्ति देवनाथ को मिल जाता है तो उसे वे पुत्रवत् ग्रहण करते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि कुबेर के-से ऐश्वर्य के बीच में बैठकर भी वे एक दरिद्र का-सा ही जीवन व्यतीत किया करते हैं। इसी में उन्हें सुख मिलता है और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता भी है !

पति से समाचार-पत्र प्राप्त करके ललितादेवी ने यह संवाद बहुत ही

ध्यान से पढ़ा और कई बार पढ़ा। पढ़ते समय आनन्द और गर्व के कारण उनके नेत्रों में जल आने लगा। वे मन ही मन कहने लगीं—तो क्या इसी कारण से वह एक अनभिज्ञ आदमी है? महामूर्ख है? नासमर्थ है? विद्वान् होना और बात है, विद्वत्ता का प्रदर्शन करना और बात।

पुत्री के पास जाकर पुलकित भाव से ललितादेवी ने कहा—पढ़कर देखो राधारानी, लोगों में देवनाथ की कितनी प्रशंसा हो रही है! केवल तू ही उसे अच्छी दृष्टि से न देख सकी, इस बात का मुझे दुःख रह गया।

प्रभा ने कौतूहल-पूर्वक माता के हाथ से समाचार-पत्र ले लिया। उस पर दृष्टि डालते ही जैसे उसने देवनाथ का नाम देखा, गम्भीर होकर उसे भूमि पर रख दिया और कहने लगी—रहने भी दो मा, इस तरह की प्रशंसाओं का कोई वास्तविक मूल्य नहीं होता। कितने लोग केवल चापलूसी के लिए पत्रों में झूठी प्रशंसा छाप देते हैं।

ललितादेवी अत्यन्त ही रोष में आकर मुँह से कोई बात निकाले बिना ही चली गईं। उनके चले जाने पर प्रभा ने पत्र का वह अंश काटकर अपने पास ले लिया और एकान्त कमरे में जाकर वह उसकी एक-एक पंक्ति का मनन करने लगी। अन्त में दुःखी भाव से मन ही मन उसने कहा—उस समय कौन जानता था कि ये सचमुच इतने बड़े विद्वान् हैं! इनमें इतना महत्त्व है, ये इतने उन्नत हैं, इतने महिमा-शाली हैं! यह बात क्या स्वप्न में भी कभी मेरे मन में आई थी?

प्रभा के हृदय में वेदना का बड़े जोरों का उफान आया। व्याकुल होकर वह बड़ी देर तक उसी शय्या के नीचे लेटी रही। उस समय उसकी अवस्था मन्त्र के वश में आई हुई सर्पिणी की-सी हो गई थी। एक ओर तो विभव-शाली वंश में जन्म ग्रहण करने का अत्यन्त प्रबल अभिमान था, दूसरी ओर वेद-मन्त्रों की अपरिमित शक्ति थी। इन दोनों ही प्रबल शक्तियों में आज डेढ़ वर्ष से भयङ्कर संग्राम होता चला आ रहा था। कोई किसी के सामने पराभव स्वीकार करने की इच्छा ही नहीं

करता था। इससे स्वभावतः इस दीर्घकाल-व्यापी महासमर में हृदय और प्राण क्षत-विक्षत होते जा रहे थे। विवेक और अहङ्कार में रात-दिन प्रबल संघर्ष होता रहता। विवेक कहता—क्यों किया तुमने ऐसा ? तू स्वयं भी मरी और मुझे अपयश भी मिला। परन्तु उसके बाद ही मस्तक ऊँचा करके उच्च स्वर से गर्व बोल उठता—जीवन नष्ट हुआ तो हुआ, इसके लिए एक इतने बड़े ज़मींदार की कन्या एक निर्धन पुजारी की दासी बनेगी ? इसके अतिरिक्त यह शरीर, यह मन, तो देवता को अर्पित किया जा चुका है, इसका स्पर्श करने का अधिकारी एक साधारण श्रेणी का मनुष्य कैसे हो सकता है ?

इस अन्तिम विचार ने प्रभा के मन में बहुत-कुछ सान्त्वना स्थापित कर रखी थी। परन्तु एक दिन एकाएक इस अहङ्कार की पराजय हुई। कथा के अवसर पर स्वयं आद्याप्रसाद के मुख से प्रभा ने नारद के प्रति कही गई भगवान् की यह उक्ति सुनी—नर-रूपी देवता में मेरे रूप की कल्पना करके जो लोग मेरी उपासना करते हैं, वे निस्सन्देह मुझे प्राप्त करते हैं। पुत्र, कन्या और पत्नी का रूप धारण करके जो लोग माता-पिता और स्वामी की मूर्ति की श्रद्धापूर्वक पूजा किया करते हैं, वे उनके स्थूल रूप की पूजा न करके वास्तव में मेरी ही पूजा किया करते हैं।

प्रभा के अन्धकार-पूर्ण हृदय में मानो इतनी देर के बाद एकाएक प्रकाश की रेखा उदित हुई। उसने यह अनुभव किया कि जो भगवान् मन्दिर में देव-विग्रह में प्रतिष्ठित हैं, वे ही तो मानव-शरीर में भी विद्यमान हैं ! तो क्या मनुष्य का अपमान करने पर भी स्वयं उन्हीं का अपमान हुआ करता है ? हाय, यह बात मुझ बुद्धिहीन के हृदय में आज तक न आ पाई ! द्वार पर के देवता को दूर भगाकर मैं किसे प्राप्त करने की कामना कर रही हूँ ?

उस दिन फिर कथा का एक भी शब्द प्रभा के कानों तक नहीं पहुँच सका। वह जप के निमित्त निर्दिष्ट किये गये मन्त्र के समान बार-

बार केवल उसी एक वाक्य की आवृत्ति करने लगी—यदि मूर्ति में मैं उनकी पूजा किया करती हूँ तो मनुष्य में ही क्यों न करूँ ?

प्रभा ने जोर से आह भरकर एक लम्बी साँस ली। मन ही मन उसने कहा—आज मैं समझ सकी हूँ कि हिन्दू रमणी हँसते-हँसते पति की जलती हुई चिता में बैठकर आत्म-बलिदान करने में किस प्रकार गर्व का अनुभव किया करती थी ! कितना दृढ़ बन्धन है यह ?

प्रभा आज कथा के बाद घर नहीं आ सकी। मन्दिर में ही पड़ी-पड़ी वह मुग्ध भाव से इन्हीं सब बातों पर विचार करती रही, अन्त में वह सो गई। आज उसने मोती के समान कितने आँसू बहाये थे मन्दिर के उस फ़र्श पर। अन्त में माता ने स्वयं आकर जब जगाया तब वह घर जा सकी।

इन कुछ दिनों के बीच में पुत्री के मनोभावों में जो परिवर्तन हुआ था, उस पर स्नेह-नरायणा माता की दृष्टि गये बिना नहीं रह सकी। बहुत सोच-विचार करने के बाद स्वयं ललितादेवी ने ही दामाद को पत्र लिखा—तुम कब आओगे ? तुम्हें देखने के लिए हम सभी लोग बहुत उत्सुक हैं। शीघ्र आना।

कई दिनों के बाद पत्र का उत्तर आया। उसमें लिखा था—आज्ञा का पालन करने में विलम्ब होगा मा। आज-कल काम-काज का भ्रंश बहुत अधिक है। इस समय मैं यहाँ से एक क्षण के लिए भी नहीं हट सकता। सन्तान समझकर मुझे क्षमा कर देना।

ललितादेवी इस उत्तर से बहुत दुःखी हुईं। उन्हें आश्चर्य हो रहा था इस विषय में पति की उदासीनता देखकर। अब उन्हें पूर्ण-रूप से सन्देह हो गया कि इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। इससे कन्या के भविष्य की चिन्ता से वे अधीर हो उठीं।

धीरे-धीरे समय बीत रहा था। एक दिन एकाएक मनोहरपुर के ज़र्मीदार-परिवार में अनभ्र वज्रपात हुआ। एकाएक एक भयङ्कर रोग के आक्रमण के कारण ललितादेवी ने अपने सोने के संसार को श्मशान के रूप में परिणत करके महाप्रस्थान कर दिया। पति तथा पुत्री के समक्ष

उन्होंने अपनी यही एकमात्र कामना प्रकट की कि किसी प्रकार देवनाथ को लौटाल ले आना ।

पत्नी की मृत्यु के बाद द्वारकानाथ का जीवन एकदम मरु-भूमि हो गया । उसमें आनन्द-रस का लेश तक न रहा । सुख के दिनों की कितनी मधुर स्मृतियाँ हृदय में उदित होकर उन्हें अधीर कर देतीं । परन्तु उनसे भी कहीं अधिक शोचनीय अवस्था थी प्रभा की । वह बेचारी बिलकुल अनुभवहीन बालिका थी । किस तरह दिन व्यतीत करती वह अपने । घर-गृहस्थी के कार्य की चिन्ता से उसे पूजा के समय में कमी करनी पड़ी । पिता की सेवा का भी भार यदि वह स्वयं न ग्रहण करती तो छोड़ती ही किसके ऊपर ? घर में कोई दूसरा तो था नहीं । किन्तु हाय, उस बेचारी ने कभी किसी के लिए कुछ किया तो था नहीं ! वह स्वयं मा के पास जाकर सदा अपनी अगणित असुविधायें प्रकट करती रही है । बात-बात के लिए मचल जाया करती थी । आज उसकी वह अगाध स्नेह की अधिकारिणी मा उसे छोड़कर कहाँ गई थी !

प्रभा के दुःख से सभी लोग दुःखी थे । विशेष दुःख था लोगों को उसके प्रति स्वामी के इस प्रकार के उपेक्षा-भाव के कारण । कितने लोगों के मँह से यही एक बात निकला करती कि इतना अमूल्य रत्न कैसे अपात्र के हाथ में पड़ गया । इतनी अनुपम सुन्दरी बालिका की ओर उसने आँख उठाकर एक बार देखा तक नहीं ।

अपमान और अभिमान के कारण प्रभा का हृदय भीतर ही भीतर जला जा रहा था, किन्तु मन का भाव वह किसी प्रकार भी किसी के समक्ष न व्यक्त कर पाती । विष का जो पात्र स्वेच्छा से उसने ओंठों से लगाया था, उसे तो अब सारा का सारा गले के नीचे उतारे बिना छुटकारा था नहीं । उसके पास कोई और उपाय नहीं था ।

पत्नी के अन्तिम अनुरोध ने द्वारकानाथ को भी अत्यन्त विचलित कर रक्खा था । जिस मानसिक वेदना से अधीर होकर उन्होंने प्राण-त्याग किया था, उसे क्या स्वयं द्वारकानाथ रोम-रोम से नहीं अनुभव कर रहे

थे ? परन्तु उस समय विपत्ति की आशङ्का से अधीर होकर आत्माभिमान-वश या कन्या के प्रति अत्यधिक स्नेह होने के कारण अविवेक-वश उन्होंने जो कार्य कर डाला, अनुचित होने पर भी उसका सुधार करने के लिए पर्याप्त सत्साहस उनमें नहीं था। कौन-सा मुँह लेकर वे देवनाथ से कहते कि तुमसे मैंने जो प्रतिज्ञा करवाई है उसे तुम भूल जाओ और कृपा करके मेरी कन्या को ग्रहण करो।

द्वारकानाथ बड़े धर्म-सङ्कट में पड़ गये। इस तरह की बात देवनाथ को लिखने का साहस उन्हें नहीं हो रहा था। परन्तु पति-परायणा साध्वी पत्नी के अन्तिम अनुरोध को वे ठुकरा भी नहीं सकते थे। इससे बहुत सोच-विचार करने के बाद उन्होंने देवनाथ को एक पत्र लिखा। पत्र का आशय इस प्रकार था—

“तुम्हारी सास जी का एकाएक देहावसान हो जाने के कारण हम लोग बहुत ही शोकाकुल हो उठे हैं। ऐसे अवसर पर तुम्हें पाकर हम लोग बहुत-कुछ शान्ति का अनुभव कर सकेंगे। ऐसी दशा में मुझे विश्वास है कि तुम शीघ्र चले आओगे। तुम्हारी स्वर्गीया सास जी की भी यही एकमात्र कामना थी। आशा है कि तुम उनके अन्तिम अनुरोध की उपेक्षा न करोगे।”

कई दिनों के बाद उत्तर आया—मातृ-स्नेह पहले कभी नहीं प्राप्त कर सका था। इससे माता जी को प्राप्त करके इतने दिनों के बाद मैं अपना वह दुःख भूल गया था। ऐसी दशा में उनका अभाव मेरे लिए कितना कष्टप्रद है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु सोनापुर की पाठशाला में प्रारम्भिक परीक्षा शीघ्र ही होनेवाली है, इसलिए आने में असमर्थ हूँ। आशा है, इस विवशता के लिए क्षमा करेंगे। परमपिता से प्रार्थना है कि वे आप लोगों के हृदय को शान्ति प्रदान करें। आप मेरे बहुत-बहुत प्रणाम स्वीकार करेंगे।

प्रभा ने यह पत्र पिता की मेज़ पर पड़ा हुआ देखा। सुयोग पाकर वह उसे चुपके से उठा ले आई और एकान्त में बैठकर पढ़ने लगी।

माता का अन्तिम आदेश उसके हृदय में अग्नि में तपाई हुई शलाका के समान विद्ध हो रहा था। वह सोच रही थी कि पुत्री होकर माता के लिए मैंने कब क्या किया है ? मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े महाप्रस्थान करते समय जो अन्तिम आदेश वे दे गई हैं, उसका पालन क्या मैं न कर सकूँगी ? परन्तु हृदय उसका इस समय भी द्वैविध्य से शून्य नहीं हो पाया था। वह सोच रही थी कि मैं तो देवता के चरणों में आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ। यह दान मैं किस प्रकार उनसे लौटाल सकती हूँ ? दूसरी चिन्ता उसे देवनाथ के सम्बन्ध की थी। वह सोच रही थी कि देवमन्दिर में मैंने उनसे जो शपथ करवाई है, उसे भङ्ग करके भला वे मुझे कैसे ग्रहण कर सकेंगे। यदि उनके लिए यह सम्भव हो भी तो क्या इसके कारण वे स्वयं मेरी ही दृष्टि में गिर न जायेंगे ? उनके हृदय की जिस तुषार के समान शुभ्र पवित्रता तथा अगाध पाण्डित्य के कारण आज मैं अपने आपको गौरवशालिनी समझ रही हूँ, प्रतिज्ञा भंग कर देने पर भी क्या मैं अपनी आन्तरिक श्रद्धा उन्हें समर्पित करने में समर्थ हो सकूँगी ?

यह पत्र पढ़कर प्रभा को एक ओर जहाँ अत्यधिक सुख मिला, वहीं दूसरी ओर उसे बड़ी निराशा भी हुई। उसे निश्चय हो गया कि वे आने को नहीं हैं। अपनी प्रतिज्ञा का पालन वे अवश्य करेंगे। अन्त में वह पत्र उसने सुरक्षित रूप से रख लिया। उसमें लिखा हुआ एक-एक अक्षर मानो अपने हृदय पर यत्नपूर्वक उसने अङ्कित कर लिया था। जब कभी भी अवसर मिलता, वह पत्र निकालकर प्रभा पढ़ने लगती। कितने सुन्दर-सुन्दर अक्षर थे उस पत्र के। मानो पंक्तिबद्ध भाव से सजाकर मोती रक्खे हुए थे। पत्र में जितने संयुक्ताक्षर थे, वे सब एक-एक चित्र-जैसे मालूम पड़ रहे थे। लिफाफे पर अँगरेज़ी में जो नाम और पता लिखा हुआ था, वह भी कितनी सुन्दरता के साथ लिखा गया था। उसे देखकर कौन कह सकता था कि इस प्रकार के सुन्दर अक्षर लिखनेवाला व्यक्ति अँगरेज़ी भाषा से अनभिज्ञ है। पत्र की ओर देखते-देखते प्रभा की आँखों में आँसू आ जाते। फिर अपने आपको वह न सँभाल पाती।

सत्रहवाँ परिच्छेद

प्रभा एकाएक एक दिन पिता के समक्ष यह प्रस्ताव कर बैठी कि कहीं की यात्रा करनी चाहिए। पुत्री के निराशा से कातर हृदय की इस अभिव्यक्ति ने स्नेहमय पिता के ऊपर मानो चाबुक जमा दिया। मन जब अत्यन्त अस्थिर हो उठता है तब मनुष्य के हृदय में स्वभावतः एक इस प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न होती है कि कहीं जाना चाहिए। कहाँ जाना चाहिए और इस जाने में किस प्रकार की सुविधा या असुविधा होगी, इस बात का ध्यान उसे नहीं रह जाता, क्योंकि उस अवस्था में तो उसे अपना चिर-परिचित वायुमण्डल विष के समान तिक्त मालूम पड़ता है और शान्ति पाने की आशा से नवीन स्थान, नवीन वायुमण्डल में प्रवेश करने के लिए हृदय लालायित हो उठता है।

पिता-पुत्री के परामर्श से स्थिर हुआ कि पुरी की यात्रा करनी चाहिए। निश्चित दिन पर मन्दिर की सेवा-पूजा का भार पूर्णरूप से आद्याप्रसाद पर छोड़कर प्रभा तैयार होगई। यात्रा के समय देव-विग्रह के सामने दण्डवत् प्रणाम करके जब वह उठकर खड़ी हुई तब उसके नेत्रों से झर-झर आँसू बहने लगे। देवता को उद्देश्य करके उसने कहा—कभी मैं श्री-चरणों को छोड़कर अन्यत्र नहीं गई हूँ महाराज ! हृदय की वेदना अत्यन्त असह्य हो जाने के ही कारण आज मैं श्री-चरणों से बिदा ले रही हूँ। आशीर्वाद दो कि नवीन शान्ति पाकर निर्मल अन्तःकरण लिये हुए फिर तुम्हारे चरणों के समीप आ जाऊँ।

यात्रा करने पर स्थिर हुआ कि दो दिन काशी में ठहरकर विश्वनाथ और अन्नपूर्णा का दर्शन किया जाय। आज प्रभा के हृदय में शैव, वैष्णव और शाक्त का भेद-भाव नहीं था। वह तो शान्ति पाने की आशा से सभी देवताओं की शरण में जाने के लिए अधीर हो रही

थी। कन्यागतप्राण द्वारकानाथ किसी भी विषय में अपनी इच्छा या अनिच्छा प्रकट करना चाहते ही नहीं थे। वे तो पुत्री को सुखी करने के लिए सब कुछ करने को तैयार थे।

काशी में मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने पर प्रभा के हृदय का सारा भार मानो बहुत कुछ हलका हो गया। उसने गङ्गा जी का ध्यान करके मन ही मन कहा—हे कलुष-विनाशिनि मातर्गङ्गे, इस पापिष्ठा के हृदय का सारा कलुष आज पूर्णरूप से धो दो जिससे अन्तःकरण में फिर किसी प्रकार की मलिनता न रह जाय। स्नान से निवृत्त होकर प्रभा कपड़े पहन रही थी, इधर उसके पिता द्वारकानाथ एक संन्यासी जी से शास्त्रीय विषयों पर बातें कर रहे थे। संन्यासी जी की एक बात प्रभा के कान में पड़ी—विश्वनाथ समस्त विश्व में व्याप्त हैं। उनका स्वरूप क्षुद्र मानव-जीवन में कहीं माता के रूप में, कहीं पिता के रूप में, कहीं स्वामी के रूप में, कहीं सखा के रूप में प्रकट हो रहा है। ये जो हमारे भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्धी हैं, वे वास्तव में उस विश्व-नियन्ता के ही विभिन्न स्वरूप हैं।

प्रभा का पिपासा से व्याकुल हृदय संन्यासी जी के इन वाक्यों को एक साँस में पी गया। एक क्षण के विराम के बाद संन्यासी जी फिर बोले—जगत् में उपर्युक्त प्रकार के सम्बन्धों को हम लोग जितना अधिक विस्तृत करते हैं, उतना ही अधिक मन का भी विकास होता है। क्षुद्र 'स्व' को बृहत् करने में समर्थ होते ही 'अहं' का यथार्थ रूप से ध्वंस हो पाता है। घर का द्वार बन्द रखकर शत्रु से आत्म-रक्षा करने की अपेक्षा क्या सन्धि करके शत्रुहीन हो जाना अधिक श्रेयस्कर नहीं है? लोगों का विश्वास है कि आसक्तिहीन होने पर मनुष्य यथार्थ-रूप से ज्ञानी हो पाता है। बात यह ठीक ही है, किन्तु आसक्तिहीन होने का उपाय प्रेमहीनता नहीं है, बल्कि प्रगाढ़ प्रेम का विस्तार है।

प्रभा के वस्त्र-आदि पहन चुकने के बाद द्वारकानाथ मणिकर्णिका-कुण्ड की ओर स्नान के निमित्त गये। इतने में अवसर पाकर प्रभा ने

सन्यासी जी के सामने अपना सन्देह उपस्थित किया। उसने कहा—
स्वामी जी, यदि कोई वस्तु देवता को समर्पित की जा चुकी हो तो क्या
फिर वह मनुष्य को दी जा सकती है ?

प्रभा के इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने कहा—देवता का
प्रसाद मनुष्य को बहुत ही अधिक प्रिय हुआ करता है। जीव-देह में
होकर ही देवता अपना नैवेद्य ग्रहण किया करते हैं, स्वयं अपने मुख
से वे नहीं ग्रहण करते। इसलिए देवता के निमित्त समर्पित की गई
वस्तु मनुष्य को इस भाव से दी जा सकती है कि इस मानव-शरीर के
मध्य में परमात्मा-रूपी जो आत्मा है, उसे मैं समर्पण कर रहा हूँ।

प्रभा के हृदय को इस बात से बड़ा बल मिला। उसने स्वामी जी
की पद-धूलि ग्रहण की और निश्चय किया कि प्रत्यक्षरूप से उनके
सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त करने में असमर्थ होने पर भी अन्तः-
करण में तो अब मैं स्वामी के रूप में उनका ध्यान किया ही करूँगी,
इतना मेरे लिए बहुत है।

काशी से चलकर द्वारकानाथ वैद्यनाथ-धाम पहुँचे। वहाँ श्री वैद्यनाथ
जी का दर्शन करके वे पुरी के लिए रवाना हुए। उन्हें घर लौटने की
कोई जल्दी नहीं थी। ज़मींदारी आदि के कार्यों से पत्नी-वियोग के
बाद से ही उन्हें विरक्ति हो गई थी। उसके प्रबन्ध का सारा भार
विश्वासी कर्मचारियों पर छोड़कर वे भगवद्भजन में ही आज-कल अपना
अधिकांश समय व्यतीत किया करते थे। इससे पुरी में वे एक सप्ताह
से अधिक समय तक जमे रहे। यहाँ आकर प्रभा का हृदय भी बहुत
कुछ हलका हो गया था। समुद्र-तट पर बैठी-बैठी वह घंटों प्रकृति की
अनुपम छटा देखती और मुग्ध हो जाती। परन्तु बीच-बीच में पति की
स्मृति हृदय में उदित होकर उसे व्याकुल किये बिना न रहती।

पुरी से लौटकर द्वारकानाथ जिस दिन कलकत्ता में कालीघाट पर
पहुँचे, उस दिन नवरात्र की अष्टमी का मेला था। इसलिए मन्दिर में
भीड़ की सीमा नहीं थी। परन्तु अर्थ-बल का जिसे सहारा होता है,

उसके लिए एक-मात्र मोक्ष-द्वार के अतिरिक्त सभी द्वार मुक्त होते हैं। इसलिए उन पिता-पुत्री को माता के चरणों के समीप पहुँचने में लेशमात्र भी क्लेश नहीं हुआ। प्रभा ने आन्तरिक श्रद्धा के साथ काली जी के चरणों में गोड़हर का वही लाल-लाल फूल अर्पित किया, जिसे कि एक बार देवनाथ ने उसके मन्दिर में देव-विग्रह को चढ़ाकर उसका क्रोध-भाजन हुआ था।

मन्दिर से निकलने के बाद कलकत्ता-नगर में वास-स्थान की ओर चलते समय द्वारकानाथ ने कहा—जब घर से निकले हैं तब थोड़ा और घूम लिया जाय। घर में रहने की अपेक्षा बाहर रहकर अधिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है, इसलिए चलो, कामाख्या भी हो लें। वह एक बहुत बड़ा सिद्ध पीठ है।

प्रभा ने पिता के इस प्रस्ताव का कोई विरोध नहीं किया। इसलिए धुबड़ी में एक स्टीमर के प्रथम श्रेणी के एक कमरे में स्थान ग्रहण किया गया। द्वारकानाथ डेक पर आकर एक डेक-चेयर पर आसन जमाये हुए थे। प्रभा अपने डिब्बे में चौकी पर एक खिड़की के पास बैठी हुई बाहर की ओर ताक रही थी।

अपराद्ध का समय था। महानद ब्रह्मपुत्र प्रशान्त आकाश की स्थिर नीलिमा को वक्ष पर धारण कर लेने के कारण वह स्वयं भी नीले कमल की-सी नील मूर्ति में सुशोभित हो रहा था। दोनों ओर ऊँची-ऊँची पर्वत-मालायें थीं। पर्वतों पर कहीं छोटे-छोटे और कहीं बड़े-बड़े वृक्ष थे। स्थान-स्थान पर लतायें लहलहा रही थीं, उनमें रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे। देखने से जान पड़ता था कि मानो किसी चित्रकार ने आकर अपने अपरिमित कौशल से इन पर्वत-मालाओं को सुसज्जित कर दिया है। परन्तु वे सब वस्तुएँ भी नीलिमा से ही अनुरञ्जित थीं। इस प्रकार जल में, स्थल में, ऊर्ध्व भाग में, अधोभाग में, जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती, आज सर्वत्र अखण्ड भाव से नीलिमा का ही साम्राज्य दिखाई पड़ता। प्रभा मुग्ध दृष्टि से उस इन्दीवर-श्याम मूर्ति का निरीक्षण करने लगी।

सन्यासी जी के सामने अपना सन्देह उपस्थित किया। उसने कहा—
स्वामी जी, यदि कोई वस्तु देवता को समर्पित की जा चुकी हो तो क्या
फिर वह मनुष्य को दी जा सकती है ?

प्रभा के इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने कहा—देवता का
प्रसाद मनुष्य को बहुत ही अधिक प्रिय हुआ करता है। जीव-देह में
होकर ही देवता अपना नैवेद्य ग्रहण किया करते हैं, स्वयं अपने मुख
से वे नहीं ग्रहण करते। इसलिए देवता के निमित्त समर्पित की गई
वस्तु मनुष्य को इस भाव से दी जा सकती है कि इस मानव-शरीर के
मध्य में परमात्मा-रूपी जो आत्मा है, उसे मैं समर्पण कर रहा हूँ।

प्रभा के हृदय को इस बात से बड़ा बल मिला। उसने स्वामी जी
की पद-धूलि ग्रहण की और निश्चय किया कि प्रत्यक्षरूप से उनके
सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त करने में असमर्थ होने पर भी अन्तः-
करण में तो अब मैं स्वामी के रूप में उनका ध्यान किया ही करूँगी,
इतना मेरे लिए बहुत है।

काशी से चलकर द्वारकानाथ वैद्यनाथ-धाम पहुँचे। वहाँ श्री वैद्यनाथ
जी का दर्शन करके वे पुरी के लिए रवाना हुए। उन्हें घर लौटने की
कोई जल्दी नहीं थी। ज़मींदारी आदि के कार्यों से पत्नी-वियोग के
बाद से ही उन्हें विरक्ति हो गई थी। उसके प्रबन्ध का सारा भार
विश्वासी कर्मचारियों पर छोड़कर वे भगवद्भजन में ही आज-कल अपना
अधिकांश समय व्यतीत किया करते थे। इससे पुरी में वे एक सप्ताह
से अधिक समय तक जमे रहे। यहाँ आकर प्रभा का हृदय भी बहुत
कुछ हलका हो गया था। समुद्र-तट पर बैठी-बैठी वह घंटों प्रकृति की
अनुपम छटा देखती और मुग्ध हो जाती। परन्तु बीच-बीच में पति की
स्मृति हृदय में उदित होकर उसे व्याकुल किये बिना न रहती।

पुरी से लौटकर द्वारकानाथ जिस दिन कलकत्ता में कालीघाट पर
पहुँचे, उस दिन नवरात्र की अष्टमी का मेला था। इसलिए मन्दिर में
भीड़ की सीमा नहीं थी। परन्तु अर्थ-बल का जिसे सहारा होता है,

उसके लिए एक-मात्र मोक्ष-द्वार के अतिरिक्त सभी द्वार मुक्त होते हैं। इसलिए उन पिता-पुत्री को माता के चरणों के समीप पहुँचने में लेशमात्र भी क्लेश नहीं हुआ। प्रभा ने आन्तरिक श्रद्धा के साथ काली जी के चरणों में गोड़हर का वही लाल-लाल फूल अर्पित किया, जिसे कि एक बार देवनाथ ने उसके मन्दिर में देव-विग्रह को चढ़ाकर उसका क्रोध-भाजन हुआ था।

मन्दिर से निकलने के बाद कलकत्ता-नगर में वास-स्थान की ओर चलते समय द्वारकानाथ ने कहा—जब घर से निकले हैं तब थोड़ा और घूम लिया जाय। घर में रहने की अपेक्षा बाहर रहकर अधिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है, इसलिए चलो, कामाख्या भी हो लें। वह एक बहुत बड़ा सिद्ध पीठ है।

प्रभा ने पिता के इस प्रस्ताव का कोई विरोध नहीं किया। इसलिए धुबड़ी में एक स्टीमर के प्रथम श्रेणी के एक कमरे में स्थान ग्रहण किया गया। द्वारकानाथ डेक पर आकर एक डेक-चेयर पर आसन जमाये हुए थे। प्रभा अपने डिब्बे में चौकी पर एक खिड़की के पास बैठी हुई बाहर की ओर ताक रही थी।

अपराद्ध का समय था। महानद ब्रह्मपुत्र प्रशान्त आकाश की स्थिर नीलिमा को वक्ष पर धारण कर लेने के कारण वह स्वयं भी नीले कमल की-सी नील मूर्ति में सुशोभित हो रहा था। दोनों ओर ऊँची-ऊँची पर्वत-मालायें थीं। पर्वतों पर कहीं छोटे-छोटे और कहीं बड़े-बड़े वृक्ष थे। स्थान-स्थान पर लतायें लहलहा रही थीं, उनमें रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे। देखने से जान पड़ता था कि मानो किसी चित्रकार ने आकर अपने अपरिमित कौशल से इन पर्वत-मालाओं को सुसज्जित कर दिया है। परन्तु वे सब वस्तुएँ भी नीलिमा से ही अनुरञ्जित थीं। इस प्रकार जल में, स्थल में, ऊर्ध्व भाग में, अधोभाग में, जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती, आज सर्वत्र अखण्ड भाव से नीलिमा का ही साम्राज्य दिखाई पड़ता। प्रभा मुग्ध दृष्टि से उस इन्दीवर-श्याम मूर्ति का निरीक्षण करने लगी।

अस्तु, इस प्रकार के विचित्रतामय मार्ग से चल कर यथासमय कामरूप में कामाख्या देवी का दर्शन कर लेने के बाद द्वारकानाथ एकाएक शिलांग की ओर चल पड़े। वहाँ से वे गोहाटी आये। कहाँ चल रहे हैं और यह यात्रा कब तक समाप्त होगी, इस विषय में पिता-पुत्री में किसी प्रकार का प्रश्नोत्तर नहीं हुआ। परन्तु उन दोनों ही व्यक्तियों की अन्तरात्मा में जो एक ही प्रकार के भावों की तरङ्गें आन्दोलित हो रही थीं, यह उनमें से किसी को भी अज्ञात नहीं था।

सुरम्य काननों तथा गिरि-नदी आदि से घेरकर प्रकृतिदेवी ने स्वयं अपने हाथों से सजाया था उस मार्ग को। परन्तु उस सुदीर्घ पथ के सुरम्य और वैचित्र्यपूर्ण दृश्य प्रभा के उद्विग्न हृदय को शान्ति का लेश तक प्रदान करने में समर्थ न हो सके।

एक दिन अत्यन्त प्रातःकाल एक स्टेशन पर आकर गाड़ी खड़ी हुई। प्रभा आँखें मूँदकर डिब्बे में बैठी-बैठी—गरम चाय, सिगरेट-बीड़ी-दियासलाई, पान चाहिए, आदि की ध्वनि सुन रही थी। किन्तु उसके बाद ही एकाएक पिता की उत्कण्ठापूर्ण कण्ठ-ध्वनि उसके कानों में पड़ी—ओह, तुम यहाँ हो? आओ, आओ, अच्छी तरह हो न?

“जी हाँ। अच्छा ही हूँ।”

“नहीं, नहीं, अच्छे कहाँ हो? तुम तो बहुत दुर्बल हो गये हो। शरीर तुम्हारा बिलकुल काला पड़ गया है।—कुली! कुली! ओ रामगिंह, बिन्दा, तिवारी, दौड़ो, जल्दी करो, सामान सब उतारो। उतरना होगा यहाँ।”

प्रभा के वक्ष में तितना भी शोणित था, वह सारा का सारा तरङ्गों से आन्दोलित होने लगा। वह खूब जोर से आँखें बन्द किये हुए पूर्ववत् पड़ी रही। उसे भय था कि कहीं आँखें खोल देने पर आँसुओं को रोक रखने में मैं समर्थ न हो पाऊँ? क्षण ही भर के बाद एकाएक उसने सुना—

यहाँ उतरिएगा ? बड़ी खराब जगह है यह । खाने-पीने की कोई भी चीज़ यहाँ नहीं मिलती । इसके सिवा आज-कल यहाँ काला ज्वर का बहुत ही भयङ्कर प्रकोप है । लोग यहाँ से भाग रहे हैं । यहाँ न उतरिए ।

“आँ ! तब तुम यहाँ क्यों पड़े हो ? आओ, आओ, देवनाथ, जल्दी से गाड़ी में बैठ जाओ, नहीं तो हम लोगों को उतरना पड़ेगा ।—ओ रामसिंह, देवनाथ के लिए एक टिकट खरीद ले आओ ।—नहीं, कोई ज़रूरत नहीं टिकट की । गाड़ी तो रिज़र्व है । टिकट की आवश्यकता नहीं है । परन्तु, तुम खड़े क्यों हो देवनाथ ? चलो, चलो, गाड़ी पर बैठ जाओ । नहीं तो अभी ही गाड़ी खाना हो जायगी ।

भीतर से ही द्वार खोलकर द्वारकानाथ भुके और उन्होंने देवनाथ का हाथ पकड़कर खींचा । देवनाथ अभिभूत-सा होकर ऐसे समय में कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य है, इस बात का निश्चय करने से पहले ही डिब्बे में जा पहुँचा । इतने में गाड़ी भी सीटी देकर विश्राम-स्थान का परित्याग करके आगे बढ़ने लगी ।

इतने समय तक प्रभा ने ऐसा कोई भी लक्षण नहीं प्रकट होने दिया कि वह जाग रही है । देवनाथ के डिब्बे में प्रवेश करते ही मानों बिजली की किसी तरङ्ग ने आकर उसके समस्त शरीर पर एक ऐसा आघात पहुँचाया कि वह सर्वथा निस्पन्द हो गई, उँगली तक हिलाने की शक्ति उसमें नहीं रह गई थी ।

द्वारकानाथ ने देवनाथ से बहुत आग्रह किया साथ में चलने के लिए । उन्होंने यह भी कहा कि यदि देश तक न चल सको तो न सही, कम-से-कम इस अञ्चल के समस्त दर्शनीय स्थानों को तो घुमाकर तुम हम लोगों को दिखला ही ले आओ । केवल दस-पन्द्रह दिन लगेंगे । परन्तु देवनाथ ने श्वशुर की इस आज्ञा का पालन करने में असमर्थता प्रकट की । उसने कहा—क्षमा कीजिएगा, आगामी सोमवार को हमारी

एक संस्कृत-पाठशाला की स्थापना का मुहूर्त्त निश्चित हुआ है। उस उपलक्ष्य में बहुत-से परिडतों को निमन्त्रित किया जा चुका है। ऐसी दशा में मेरा अनुपस्थित होना बहुत ही अनुचित होगा। तीन स्टेशन के बाद मुझे उतर जाना होगा। वहाँ से दिन भर बैलगाड़ी पर यात्रा करने के बाद मैं निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकूँगा।

दूसरे स्टेशन पर गाड़ी खड़ी होते ही द्वारकानाथ दातून करने के बहाने से नौकरों के डिब्बे में चले गये।

देवनाथ सामने ही बेंच पर बैठा हुआ था। पिता के चले जाने पर प्रभा ने जान-बूझकर ही कुंजियों को खनखनाकर कुछ खिसके हुए अञ्चल को सँभालकर यथास्थान किया। परन्तु देवनाथ अत्यन्त ही अन्यमनस्क था। इस अवस्था में भी मुँह फेरकर उसने प्रभा की ओर नहीं देखा। उसकी दृष्टि तो खिड़की के बाहर पर्वतमाला की ओर लगी हुई थी। पति के इस उपेक्षा-भाव के कारण प्रभा के हृदय में अभिमान, वेदना और निराशा की तीव्र अग्नि एक साथ जल उठी। साथ ही साथ क्रोध ने भी अपनी सुषुप्ति भङ्ग करके धीरे-धीरे मस्तक उठाना आरम्भ किया। परन्तु क्रोध वह किस पर करती? वह तो जिस कुँए के पानी में डूबकर प्राणों से वञ्चित होने जा रही थी, वह स्वयं उसी का खोदकर तैयार किया हुआ था! उसने स्वेच्छा से जब मरुभूमि में अपना आसन जमाया था, तब मृग-मरीचिका की ओर ताकते-ताकते व्याकुल-भाव से जीवन व्यतीत करना उसके लिए अनिवार्य था। अन्यथा उसके लिए सुशीतल जल का घट तो भरा हुआ रक्खा था। उसका पान करके अपने हृदय की तृष्णा को शान्त करने से उसे कौन रोकनेवाला था?

एक दूसरा स्टेशन भी आगया। द्वारकानाथ अब भी डिब्बे में नहीं आ सके। प्रभा परिस्थिति का भली भाँति अनुभव कर रही थी। पिता का डिब्बे से निकलकर नौकरों के डिब्बे में चले

जाने का उद्देश्य उसे अज्ञात नहीं था। वह यह भी अनुभव कर रही थी कि यदि मैंने इस अवसर का सदुपयोग न किया तो कदाचित् जीवन में फिर इनका दर्शन न मिल सकेगा। एकाएक मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई माता की आन्तरिक कामना उसे स्मरण आगई और आँखें आँसुओं से भीग गईं। परन्तु उसके बाद ही प्रभा को स्मरण हो आई शपथ की बात। मन ही मन निराश होकर उसने कहा—हम दोनों के बीच में विशाल हिमालय के समान यह जो दुर्लभ व्यवधान मस्तक उठाये खड़ा है, इसका अतिक्रमण करनेवाला मृत्यु के अतिरिक्त और कौन है? भला वे अपनी प्रतिज्ञा क्यों भङ्ग करने लगे? यदि उन्होंने प्रतिज्ञा भङ्ग ही कर दी तो क्या मैं उससे सुखी हो सकूँगी?

प्रभा मन ही मन यह सब तर्क-वितर्क कर रही थी, साथ ही उसका मन यह सोच-सोचकर खिन्न होता जा रहा था कि गाड़ी रुकी नहीं कि मेरी आशा का जीवन भर के लिए अन्त हो जायगा। रास्ता बहुत ऊबड़-खाबड़ था, इसलिए गाड़ी बहुत सावधानी के साथ चल रही थी। उसका वेग क्रमशः मन्द होता जा रहा था। देवनाथ ने एकाएक बाहर की ओर से दृष्टि हटाकर कमरे में देखा। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी ने बहुत ही अस्पष्ट स्वर में आह भरी है। उसने मन ही मन कहा—ठीक है! प्रभा की आँख में शायद कोयले का कण पड़ गया है। देखो न, आँखें उसकी डबडबा आई हैं! देवनाथ ज़रा-सा स्थिर होकर उठा और प्रभा के समीप जाकर कहने लगा—आँख में शायद कोयला पड़ गया है? जल नहीं है यहाँ पर? कोई बात नहीं है, ठहरो, मैं अभी निकाले दे रहा हूँ।

देवनाथ सुराही से जल लेकर सावधानी के साथ प्रभा की आँखों पर छींटे देने लगा। उस समय प्रभा के नेत्रों से आँसुओं की धारा वेग से बह चली थी और बाहर के जल में मिलकर उसके कपोलों पर प्रवाहित हो रही थी।

ज़रा देर की प्रतीक्षा के बाद देवनाथ ने पूछा—क्या अभी कोयला निकला नहीं है ? प्रभा ने मस्तक हिला दिया । धीरे-धीरे उसने आँखें पोंछ डालीं । इतने में स्टेशन आया । देवनाथ उठकर खड़ा हुआ । निमेषभर प्रभा की ओर ताकने के बाद उसने कहा—खिसककर बैठो, कहीं आँख में फिर न कोयला पड़ जाय । इसके बाद और कुछ न कहकर देवनाथ डिब्बे से निकलकर प्लेट-फार्म पर चला गया ।

प्रभा अवसन्न-भाव से तकिया के सहारे बैठी रह गई । प्लेट-फार्म पर किसी के पूछने पर देवनाथ ने उसकी ओर सङ्केत करके जो कहा था—ये मेरी स्त्री हैं, वही उसका छोटा-सा वाक्य प्रभा के कानों में गूँज रहा था । इतने ही से वह अपने को कृतार्थ समझ रही थी ।

अठारहवाँ परिच्छेद

मन में निराशा के कारण उत्पन्न हुई वेदना का असह्य भार लिये हुए प्रभा पिता के साथ घर लौट आई। घर भी उसका अब सुख का निकेतन तो रह नहीं गया था। वहाँ जितनी भी आकर्षण की सामग्रियाँ थीं, उन सबको मानो कोई लूट ले गया, केवल सूना घर पड़ा था। जिनके आश्रय में रहकर उसने अपना समस्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया था, वे उसके चिर-सुहृद् राधाकृष्ण मन्दिर में विराजमान थे अवश्य, किन्तु अपने अपराध के गुरु भार के कारण आज वह भली भाँति उनकी ओर तक नहीं सकी। आज वह दुःखी भाव से अनुभव कर रही थी कि इतने दिन मैंने आडम्बर में ही व्यतीत कर दिये ! क्या मैंने कभी वास्तविकता की ओर भी ध्यान दिया है ? पूजा की सामग्रियाँ खूब सजा-सजाकर रखी हैं, किन्तु पूजा कभी नहीं की मैंने। ध्यान के मन्त्रों का पाठ किया है, ध्यान नहीं किया।

आद्याप्रसाद मन्दिर में पूजा कर रहा था। आज उसके द्वारा की गई विविधोपचार-रहित पूजा प्रभा के मन को तृप्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकी। उसने मन ही मन कहा—देव, तुम्हारी पूजा केवल एक व्यक्ति ने की है और उस व्यक्ति ने की है, जिसे मूर्ख कहकर, पूजा-पद्धति से अनभिज्ञ कहकर, निकाल दिया था मैंने।

आद्याप्रसाद पूजा करके चला गया तब प्रभा ने द्वार बन्द कर लिया और देवता के चरणों के समीप पड़ी-पड़ी वह विलाप करने लगी। उसने कहा—नाथ, इतने दिनों तक मैं एकमात्र तुम्हें अपना स्वामी, अपना सखा मानती आई हूँ। हृदय में मेरे किसी दूसरे के लिए कभी स्थान नहीं था, परन्तु मेरे हृदय के उसी आसन पर आज अपना प्रतिनिधि, अपनी साकार मूर्ति, तुम्हीं ने भेज दी है, इसलिए उनकी

सहधर्मिणी के रूप में उनके साथ एकचित्त होकर, उन्हीं के विश्वास से विश्वास प्राप्त करके पुकार रही हूँ—हे नाथ, हे जगन्नियन्ता जगदीश्वर, हे माता, हे जगज्जननी, मुझे शान्ति दो, मुझे मनुष्यत्व प्रदान करो, मैं उनके योग्य बन सकूँ । मैं नहीं पा सकी हूँ उन्हें तो न सही, किन्तु मुझे शक्ति दो कि सहधर्मिणी के धर्म का मन, वचन और काया से पालन कर सकूँ ।

आँसुओं की धारा के साथ सारा अहङ्कार निकालकर प्रभा ने अपना हृदय बहुत-कुछ हलका कर लिया । जीवन की धारा उसने उस दिन से परिवर्तित कर दी । अब उसे यदि ज़रा भी शान्ति मिलती तो दूसरे के लिए कुछ कर सकने पर । यही कारण था कि मन्दिर की पूजा-आदि की सामग्रियाँ सजाने के अतिरिक्त अन्यान्य कार्य भी वह करने लगी । पिता की सेवा का भी भार अब प्रभा ने अपने ऊपर लिया । अब उसे इस प्रकार के कार्यों में संलग्न रहने पर ही शान्ति मिला करती ।

पिता के अत्यधिक आग्रह से प्रभा ने एक दिन देवनाथ को एक पत्र लिखा । उस पत्र का आशय था—इस बार तुम्हें दुर्बल और रुग्ण देखकर पिता जी बहुत ही चिन्तित हो उठे हैं । उन्होंने मुझे यह लिखने का आदेश किया है कि कुछ दिनों के लिए तुम वहाँ से यहाँ चले आओ और अपना स्वास्थ्य सुधार लो । यदि किसी कारण से यहाँ आना सम्भव न हो, तो और ही किसी स्वास्थ्यकर स्थान में चले जाओ । तुम्हें कौन-सा रोग हुआ है, यह जानने के लिए उनका चित्त बहुत ही व्याकुल हो उठा है । तुम्हारे यह लिख देने से कि मुझे कोई रोग नहीं है, उनको सन्तोष नहीं होता । उनका अनुरोध है कि जो बात यथार्थ हो, वही लिख दो । यहाँ सब कुशल है । पिता जी की इच्छा है कि शीघ्र ही स्थान-परिवर्तन कर दिया जाय ।

कई दिनों की व्याकुलतामय प्रतीक्षा के बाद इस पत्र का उत्तर आया । परन्तु यह उत्तर स्वयं प्रभा के नाम नहीं, बल्कि उसके पिता के नाम आया । वह इस प्रकार था—

“अनेकानेक प्रणाम !

मेरे लिए आप अत्यन्त उत्कण्ठित हैं, यह जानकर मैं बहुत ही दुःखी हुआ हूँ । मुझे कोई विशेष रोग तो मालूम नहीं पड़ता । किसी-किसी दिन ज्वर अवश्य हो आया करता है, किन्तु उसके लिए इतना चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है । डाक्टर की राय है कि यह केवल मलेरिया है । साधारणतः मैं अच्छा ही हूँ । कुछ कार्यवश मुझे चट्टग्राम जाना है । वहाँ की जल-वायु बहुत ही उत्तम है, इससे आशा है कि इसी सिलसिले में मलेरिया का भी जो थोड़ा-बहुत विकार है, वह दूर हो जायगा ।

—सेवक देवनाथ”

यथासमय पिता के टेबिल पर से वह पत्र लाकर प्रभा ने पढ़ा । पढ़ने के बाद उसी पर मस्तक रखकर वह लोट पड़ी । काफ़ी समय के बाद उसने जब मस्तक उठाया तो नेत्रों के जल से भीग जाने के कारण वह पत्र लीप-पोत उठा था ।

माता के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रभा ने बड़ी तत्परता के साथ अतिथियों का आगत-स्वागत किया । दो-तीन दिन तक बड़ी भीड़-भाड़ थी । आस-पास के समस्त ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूर-दूर के भी अग्रणित विद्वान् निमन्त्रित करके बुलाये गये थे । सुदूर आसाम में देवनाथ के द्वारा स्थापित की गई संस्कृत-पाठशालाओं के भी कई अध्यापक और विद्यार्थी आये हुए थे । यदि कोई आया नहीं तो वह था देवनाथ । द्वारकानाथ के हृदय पर इससे बड़ा आघात पहुँचा । उन्होंने सोचा कि हर्षा करने पर ही वह आ सकता था । लोग अपने मन में क्या कहेंगे ?

प्रभा ने केवल एक लम्बी साँस भर ली । देवनाथ के आने का रास्ता तो बन्द ही हो चुका है, यह बात जाननेवाली केवल वही तो थी ।

तुलसी आज-कल दो-तीन लड़के-लड़कियाँ लेकर सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत कर रही थी । गृहस्थी के काम-काज के कारण आज-कल उसे

प्रभा के पास आने का अवकाश बहुत कम मिला करता था। तो भी प्रभा से उसे इतनी अधिक सहानुभूति थी कि अवकाश मिलते ही वह उसके पास पहुँच जाती। सास के श्राद्ध के दिन भी देवनाथ जब नहीं आया तब विस्मित होकर उसने प्रभा से कहा—देश-देशान्तर के लोग आये, एकमात्र वे ही नहीं आ सके। मामला क्या है, यह समझ में नहीं आता। कहीं वहाँ उसने दूसरा विवाह तो नहीं कर लिया है ?

तुलसी की इस बात पर निराशभाव से केवल मुस्कराकर प्रभा ने मुँह नीचा कर लिया। मन ही मन उसने कहा—विवाह भी यदि उन्होंने कर लिया होता, तो मुझे बहुत-कुछ सान्त्वना मिल जातो। कम-से-कम वे तो सुखी रहते ! मैंने तो अहङ्कारवश अपने साथ ही उनका भी जीवन चौपट कर डाला। अन्यथा सम्भव था कि आज वे अपने अनुकूल किसी सुन्दरी का पाणिग्रहण करके सुखपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते होते !

माता के श्राद्ध का समारोह समाप्त हो जाने पर प्रभा ने फिर एकान्त जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। अब वह एक विभवशाली तथा महिमा-मण्डित जमींदार-परिवार की दुलारी कन्या नहीं थी, बल्कि लोक-सेवा का व्रत ग्रहण करके दरिद्रता का जीवन व्यतीत करनेवाले पति की पत्नी थी। प्रभा ने रोम-रोम से यह अनुभव कर लिया था कि संसार के दीन-दुखिया ही मेरे पति की दृष्टि में साक्षात् नारायण की मूर्ति हैं। इसलिए स्वयं उसने भी अब दरिद्र-नारायण को सेवा-पूजा के आयोजन में ही अपने आपको संलग्न कर दिया। अब वह एक क्षण के लिए भी कर्म का विराम न होने देती।

प्रभा ने अब अपनी अधिकांश बहुमूल्य सामग्रियाँ दूसरों, विशेषतः अभावग्रस्त व्यक्तियों को दान कर दीं। अब वह व्रत-उपवास, पूजा-पाठ तथा लोकहित-सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के कार्यों में बराबर लगी रहा करती। इससे उसने बहुत अधिक शान्ति प्राप्त की थी। परन्तु इधर थोड़े दिनों से उसकी उस शान्ति में फिर व्याघात होना आरम्भ हुआ। पिता के नाम देवनाथ का जो पत्र तीर्थयात्रा से लौटने के

बाद उसने प्राप्त किया था, उसके बाद से प्रायः एक वर्ष तक प्रतिसप्ताह उसका पत्र आता रहा और उन सभी पत्रों में उसकी कुशलता का ही समाचार लिखा होता, यद्यपि स्वयं प्रभा तथा उसके पिता को इस बात की सत्यता पर पूर्णरूप से विश्वास न होता। बाद को देवनाथ के पत्र क्रमशः विलम्ब से आने लगे। इधर दो-तीन मास से तो उसका एक भी पत्र नहीं आया था। इससे प्रभा बहुत ही चञ्चल हो उठी थी।

द्वारकानाथ भी दामाद की कुशलता का समाचार प्राप्त करने के लिए बहुत ही अधीर थे। उन्होंने एक आदमी भेजकर उसका समाचार मँगवाया। लौटकर आने पर उस आदमी से ज्ञात हुआ कि पूछने पर यद्यपि देवनाथ कहता यही है कि तबीअत मेरी बहुत अच्छी है, किन्तु वास्तव में वह बहुत दुर्बल हो गया है। यह सुनकर उन्होंने कहा—बेटी राधारानी, चलो हम-तुम चलें। परन्तु राधारानी पिता की यह बात टाल गई। उसने कहा—इस समय हम लोग घर से बाहर कैसे पैर निकाल सकते हैं, बाबू जी! आज-कल भूले के दिन हैं, मन्दिर में शृङ्गार-आदि की व्यवस्था करनी है। बाद को जन्माष्टमी होगी। जन्माष्टमी के बाद ही मा के छयाह श्राद्ध का समय आ जायगा। वास्तव में वह पति के पास जाना नहीं चाहती थी। उसने सोच रक्खा था कि स्वामी को यदि तपस्या करने में ही सुख मिलता है, तो कोई कारण नहीं है कि निम्न श्रेणी की एक स्त्री के समान जाकर मैं उनकी तपस्या में व्याघात डालूँ। मन्दिर के अधिष्ठातृ-देवता, राधाकृष्ण, अधःपतन के इस तीव्र लोभ से तुम मेरी रक्षा करो।

बड़ी कठिनाई से धैर्य का अवलम्बन करके प्रभा अपना समय व्यतीत कर रही थी, किन्तु इतने दिनों से उमड़-धुमड़ करनेवाले मेघ ने एक दिन वज्रपात कर ही दिया। देवनाथ का पत्र आया, जिसमें लिखा था—बहुत दिनों तक पत्र-आदि नहीं लिख सका। यह पत्र कई दिनों के प्रयत्न के बाद लिख सका हूँ। आज मैंने निश्चय कर लिया है कि इसे

समाप्त करके ही रहूँगा, अन्यथा सम्भव है कि यह फिर कभी न समाप्त किया जा सके।

“आपका अनुमान यथार्थ है। मेरा शरीर सचमुच आरोग्य नहीं है। मैं इतना अधिक निर्बल हो गया हूँ कि करवट बदलने तक मैं अब क्लान्ति का अनुभव किया करता हूँ। मेरी समझ में यह बात आगई थी कि आसाम के कालाज्वर के कारण मेरी जीवनी-शक्ति क्रमशः क्षीण होती जा रही है। इसी लिए अपने आरम्भ किये हुए समस्त कार्यों को समाप्त करने के लिए तन्मयतापूर्वक प्रयत्न करने में संलग्न हो गया था। आजकल मैं सदा ही ज्वर से पीड़ित रहा करता हूँ। जब कभी ज़रा देर के लिए भी शरीर कुछ हलका हो जाता है, तब मैं काम में लग जाता हूँ। इसी लिए पत्र-आदि नियमित रूप से लिखने में समर्थ नहीं हो सका हूँ। आशा है, कृपापूर्वक मेरा यह अपराध क्षमा कर देंगे।

“आज मैं आपके चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम कर रहा हूँ। आपने मुझे बहुत-कुछ दिया है। इस क्षुद्र जीवन की कितनी ही आकांक्षाएँ केवल आपकी कृपा के बल पर पूर्ण हुई हैं। अन्यथा मेरे जैसे दीन-हीन में कहाँ इतनी सामर्थ्य थी कि इस प्रकार के उत्तम और कल्याणकारी कार्यों में अपने आपको लगा सकता। मैंने जो कुछ भी त्रुटियाँ की हैं, मुझसे जो कुछ भी अपराध हुए हैं, सन्तान समझकर उन सबके लिए क्षमा कर दीजिएगा।

“आपको क्लेशकर होगा, यह सोचकर जो समाचार देने के लिए इस समय बैठा हूँ, वह मुझसे नहीं दिया जाता। परन्तु दिये बिना भी नहीं रहा जाता। इसी लिए लिख रहा हूँ कि मेरे इस पत्र का उत्तर न दीजिएगा, क्योंकि वह व्यर्थ होगा; उसे मैं पा न सकूँगा। मेरी शारीरिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। डाक्टरों का मत है कि अब मैं किसी प्रकार भी जीवित न रह सकूँगा। सम्भव है कि दो-तीन दिन से अधिक न चल सकूँ। ये दो-तीन दिन मैं स्वेच्छापूर्वक व्यतीत करना चाहता हूँ। पता नहीं, नारायण मेरी यह इच्छा पूर्ण होने देंगे या नहीं। मेरा पत्र

पाकर आप लोग यहाँ आने का क्लेश न कीजिएगा, यही मेरी आन्तरिक और अन्तिम प्रार्थना है ।

—सेवक देवनाथ”

इस पत्र पर आदि से अन्त तक दृष्टि दौड़ा जाने के बाद द्वारकानाथ बिस्तरे पर लोट पड़े । पक्षाघात के रोगी के समान व्याकुल-भाव से वे छटपटा रहे थे । पिता को इस प्रकार छटपटाते देखकर प्रभा दौड़ पड़ी । उनके हाथ में वह पत्र देखकर निस्सङ्कोचभाव से उसने उसे ले लिया और पढ़ने लगी । उस पत्र के साथ एक पत्र प्रभा के नाम का भी था, जिसकी ओर द्वारकानाथ की दृष्टि नहीं जा सकी थी ।

देवनाथ ने प्रभा के नाम जो पत्र लिखा था वह बहुत विस्तृत था और उसमें देवता के प्रति उसकी अनन्य भक्ति की प्रशंसा की गई थी, साथ ही मूर्ति-पूजा की सार्थकता पर विचार किया गया । देवनाथ ने उस पत्र के द्वारा यह स्वीकार किया था कि भगवान् के साकार रूप के प्रति प्रभा की भक्ति के कारण वह बहुत ही लाभान्वित हुआ है । अन्त में उसने अपनी करुण अवस्था पर प्रकाश डाला था, जो इस प्रकार था—

“अब मैं बिदा हो रहा हूँ । मेरे मन में किसी प्रकार की अतृप्ति नहीं है । तुम लोगों की दया से इस जीवन में मैंने बहुत पाया है । ईश्वर जानते हैं, मैं तुम लोगों का कितना ऋणी हूँ । मेरी मृत्यु के कारण तुम्हारे दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है । कभी-कभी स्मरण आने पर तुम मेरे सम्बन्ध में इतना भर सोच लिया करना कि मेरा एक विश्वासी शुभचिन्तक था । तुम्हारे विश्वास की रक्षा करने में मैं समर्थ हो सका हूँ न ?

“मेरी मृत्यु हो जाने पर शायद लोग तुम्हें विधवा कहा करेंगे । देशाचार के अनुसार कुछ क्लेश सहन करना भी तुम्हारे लिए अनिवार्य होगा । किन्तु मैं जानता हूँ कि तुम चिर-सधवा हो । जिसने अपना हृदय भगवान् को समर्पित कर दिया है, उसके लिए वैधव्य सम्भव नहीं है कि किसी भी दशा में वह विधवा हो सके ।

“तुमसे मेरा केवल एक अनुरोध है और वह अन्तिम अनुरोध है। यदि तुम्हें लेकर पितृदेव यहाँ आना चाहें तो तुम कभी न आना। इस लोक में मैंने तुमसे कभी कोई अनुरोध नहीं किया, करूँगा भी नहीं। यही एकमात्र मेरी प्रार्थना है। ईश्वर तुम्हें सुखी रखे।

—चिरमङ्गलाकांक्षी देवनाथ”

पत्र पढ़कर प्रभा निस्तब्ध हो गई। मर्यान्तक यन्त्रणा के कारण उसके पीले और कान्तिहीन ओंठ काँप रहे थे। कितने संकट की अवस्था थी वह एक हिन्दू-महिला के लिए ! पति मृत्यु-शय्या पर है और पत्नी को वह वहाँ पहुँचकर अन्तिम दर्शन करने के लिए निषेध कर रहा है ! कितना बड़ा अभिशाप है यह ! रक्त-मांस का शरीर धारण करके इतना असह्य दण्ड स्वीकार करना एक पापी से पापी के लिए भी क्या सम्भव है ?

द्वारकानाथ एक नन्हें-से बालक के समान रो रहे थे। उन्होंने कहा—चलो बेटी, हम लोग उनके पास चलें। वहाँ गये बिना हम लोगों से कैसे रहा जायगा ?

उन्नीसवाँ परिच्छेद

प्रभा के नेत्रों में जल नहीं आया । उसके शरीर के भीतर का सारा अंश मानो अत्यधिक शीत के कारण बर्फ के समान जम गया था । पिता की ओर उसने अपनी शून्य दृष्टि फेरी । बाद को वही शव का-सा रक्तहीन श्रोष्ठ खोलकर वह बोली—मेरा जाना न हो सकेगा बाबू जी ! जाना हो तो तुम जाओ ।

प्रभा का हृदय निराशा से पूर्ण था । उसे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पड़ता । तो भी, उस घोर निराशा के समय भी, मेधों से आच्छादित आकाश पर विजली की समान आशा की एक क्षीण रेखा उदित हो होकर समय-समय पर उसे चञ्चल कर दिया करती थी । प्रभा के मन में आता—सम्भवतः अब भी वे जीवित हैं । यह भी सम्भव है कि इस बार के रोग के आक्रमण से बच जाने पर वे आरोग्य ही हो जायँ । इसलिए यह अचिक्र आच्छा होगा कि एक पत्र में सारी बातें विस्तार-पूर्वक लिखकर उनसे आज्ञा ले लूँ, सेवा में उपस्थित होने के लिए । यदि समय पर मेरा पत्र पहुँच गया तो रोग-शय्या पर पड़े रहने पर भी मृत्यु से पहले वे मालूम कर लेंगे कि मेरी स्त्री मुझसे प्रेम करती है, विशुद्ध अन्तःकरण से प्रेम करती है ।

बड़ी कठिनाई से चित्त स्थिर करके काँपते हुए हाथ से पत्र लिखने के लिए प्रभा बैठी । पहले-पहल संबोधन का शब्द उसकी कलम से निकला । उस शब्द का प्रयोग करते समय उसने अपने हृदयरूपी द्वार का कपाट पूर्णरूप से उद्घाटित कर दिया । मानसिक युद्ध के कारण कितना क्षत-विक्षत हो उठा है नारी-हृदय उसका, यह बात स्पष्ट रूप से परिलक्षित कर दी उसने उस संबोधन-शब्द के प्रयोग के द्वारा । बाद को विवाह मण्डप में मन्त्रों की आवृत्ति हो जाने के बाद से भिन्न-भिन्न

घटनाओं के अवसर पर, विशेषतः कौतुकागार में पति के प्रथम साक्षात्, पति की बिदाई तथा सुदीर्घकाल के विरह के बाद अकस्मात् ट्रेन में मुलाकात हो जाने पर, प्रभा की मानसिक अवस्था में जिस-जिस प्रकार के परिवर्तन हुए थे, उन सबको उसने बड़ी ही खूबी के साथ चित्रित किया। आँसुओं की धारा से प्रायः भीग गया था वह पत्र। काँपती हुई लेखनी के द्वारा लिखा हुआ होने के कारण अक्षर उस पत्र के बहुत टेढ़े-मेढ़े हो गये थे। इस कारण वह छोटा-सा भी पत्र सैकड़ों पृष्ठ की जीवन-गाथा के ही समान करुण हो उठा था।

प्रभा ने बड़ी कठिनाई से धैर्य का अवलम्बन करके वह पत्र समाप्त किया। परन्तु उसने उसे भेजा नहीं। एकाएक उसके मन में आया कि जिस समय यह पत्र पहुँचेगा, उस समय तक उनकी शारीरिक अवस्था सम्भवतः बहुत ही शोचनीय हो उठी होगी। इसलिए उच्छ्वास से व्यक्त की गई भाषा उनके निर्बल शरीर तथा हृदय के लिए बहुत ही क्लेशकर होगी। सम्भव है कि पत्र के द्वारा व्यक्त होकर मेरी व्याकुलता उनके स्नेहमय चित्त को व्यथित कर दे, जिससे उनका अन्तिम समय भी अत्यन्त ही अशान्तिमय हो उठे।

स्वार्थपरायणा प्रभा आज ममतामयी पत्नी हो उठी थी। आज वह अपनी अपेक्षा स्वामी के ही सुख के लिए अधिक व्याकुल थी। उसने सोचा—नहीं, उनका अन्तिम समय अशान्तिमय न होना चाहिए। मैंने तो अपना जीवन ही नष्ट कर दिया है, यह कौन-सी ऐसी बात है, जिसके लिए अधिक मोह करूँगी ?

प्रभा ने बड़ी कठिनाई से धैर्य का अवलम्बन किया। किसी प्रकार जी कड़ा करके उसने एक दूसरा पत्र लिखा। उस पत्र का कुछ अंश इस प्रकार था—

“तुमने मुझे आने से रोक दिया है। उस आज्ञा का उल्लङ्घन करने की शक्ति मुझमें नहीं है। परन्तु आज मेरा हृदय तुम्हारे प्रति आन्तरिक अनुराग और भक्ति से परिपूर्ण है। तुम्हारे प्रति मेरा जो

कर्त्तव्य है, उसका पालन करने के लिए मैं लालायित हूँ। आज जो तुम इस प्रकार की शोचनीय अवस्था में पड़े हो और मैं तुम्हारे चरणों के समीप नहीं हूँ, इस कारण मेरे हृदय को मर्मान्तक क्लेश हो रहा है। कृपा करके मुझे इस बात की अनुमति दे दो कि मैं तुम्हारी रोग-शय्या के पास बैठी रहकर तुम्हारी सेवा कर सकूँ। बाद को जो आज्ञा होगी, उसे नत-मस्तक होकर स्वीकार करूँगी। अपराधिनी पद्मी को इस अन्तिम सुख से वञ्चित न करना। विवाहमन्त्रों के द्वारा सुख-दुःख के समस्त अंश प्रदान करने की ही बात तो स्वीकार की थी तुमने ! इस जगत् में तुमसे मैं एकमात्र यही प्रार्थना कर रही हूँ। क्या मेरी इतनी आकांक्षा भी न पूर्ण करोगे ?

—तुम्हारी कृपाप्रार्थिनी दासी राधारानी ।”

राधारानी या प्रभा ने पत्र डाक में डाल दिया। परन्तु विलम्ब अधिक हो चुका था। जिस समय यह पत्र देवनाथ के कुटीर के द्वार पर पहुँचा, उस समय कुटीर सूना पड़ा था, वहाँ कोई था नहीं। प्रभा का पहला पत्र उसे अवश्य मिला था, वह भी वैसी अवस्था में जब कि ज्वर की असह्य यन्त्रणा के कारण अचेत होकर वह पड़ा था। मलेरिया के विष से दूषित काला ज्वर उसके शरीर में प्रवेश कर गया था। पहले तो किसी किसी दिन वह प्रबल वेग से आक्रमण किया करता था, किन्तु अब उसे आक्रमण करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। देवनाथ के शरीर-रूपी दुर्ग पर अब उसका साङ्गोपाङ्ग अधिकार हो चुका था, इसलिए वह राजा के-से गौरव के साथ उसमें निवास कर रहा था, साथ ही अपनी पीली पताका विजित के समस्त शरीर पर वह गर्वपूर्वक उड़ा रहा था। अब देवनाथ के शरीर पर बहुधा उसके साथी का ही भार रहा करता। उस भार के कारण उसका जीर्ण देहरूपी दुर्ग प्रायः कम्पित होता रहता था। रात-दिन में केवल पाँच-सात घंटे तक उसका शरीर कुछ-कुछ हलका रहा करता, परन्तु क्रमशः इस इतने अवसर में भी उत्तरोत्तर कमी ही होती जा रही थी।

देवनाथ जिस प्रदेश में निवास कर रहा था, वहाँ मलेरिया का इतना प्रबल प्रकोप था कि जिसके शरीर में वह एक बार अड्डा जमा लेता उसकी अवस्था जीर्ण एवं भग्नग्रह की-सी हो उठती थी। प्रतिदिन उसमें से चूना और बालू ज़रा-ज़रा करके गिरता रहता और सदा ही यह आशङ्का बनी रहती कि न जाने किस समय प्राणपखेरू उड़ जायँ। स्थान-परिवर्तन के अतिरिक्त इस रोग का और कोई प्रतीकार था नहीं। श्वशुर के बार-बार के अनुरोध के कारण देवनाथ ने एक बार एक डाक्टर को बुलाया था। डाक्टर ने कुनाइन की कई गोलियाँ दीं और बहुत-कुछ उपदेश भी दिया। परन्तु डाक्टर के आदेश के अनुसार कार्य करना देवनाथ के लिए सम्भव था नहीं, इसलिए उसने फिर उसे नहीं बुलाया।

ज्वर के वेग से जब तक शरीर काँपता रहता तब तक अपनी पुरानी दुलाई शरीर से लपेटे हुए चिथड़े-चिथड़े हो गये बिस्तरे पर देवनाथ पड़ा रहता। पिपासा के कारण कण्ठ सूखते रहने पर भी वह मुख में विन्दुमात्र जल न डाल पाता। कम्पन के वेग से शरीर की गाँठ-गाँठ में पीड़ा होती रहती। ऐसा कोई भी व्यक्ति वहाँ नहीं था जो देवनाथ के मुख में ज़रा-सा पानी डाल देता या उसका शरीर दबा देता जिससे कि उसकी पीड़ा थोड़ी-बहुत शान्त हो पाती। बाद को ज्वर का वेग कम हो जाने पर वह उठकर बैठता। किसी-किसी दिन ज़रा-सा भात बनाकर वह पेट में डाल लिया करता और किसी-किसी दिन निराहार ही रहकर पोथी-पत्रा में मन लगाये रहता। बिस्तरे पर पड़े-पड़े वह या तो इष्ट मन्त्र का जप करता या किसी शास्त्र के किसी गम्भीर विषय पर विचार किया करता। किसी-किसी समय एकाएक एक व्यक्ति की भी स्मृति उसके हृदय में उदित हो आया करती थी।

उस दिन ज्वर शान्त हो जाने के बाद देवनाथ ने आँखें खोलीं। गोधूलि का समय था। भूमि पर अन्धकार का आवरण फैल रहा था, किन्तु धुँधला प्रकाश अब तक वर्तमान था। सामने ही

लिफाफे के आकार की एक चीज़ अस्पष्ट-भाव से दिखाई पड़ी। उसके मन में आया—पत्र ही तो है यह ! आग्रहपूर्वक उसने मस्तक उठाया। किसका पत्र होगा, यह कुछ देवनाथ को मालूम नहीं हो सका। परन्तु फिर भी एक विशेष प्रकार की आशा से वह कुछ चकित-सा हो उठा था। द्वारकानाथ के पत्र के द्वारा केवल इतना सूचित होने की सम्भावना थी कि राधारानी अच्छी है। केवल इतना ही ! कुशल-समाचार के अतिरिक्त प्रभा के सम्बन्ध में उसे और कुछ भी मालूम होना सम्भव न होगा ! परन्तु इतना तो उसके लिए बहुत था। जिसकी कुशलता की कामना से देवनाथ ने आत्मीय-स्वजनो का परित्याग करके एक ऐसा जीवन वरण किया है कि मृत्यु-काल में भी उसके मुख में एक बूँद जल डालनेवाला कोई न हो, उसके सकुशल होने का संवाद उसके लिए बहुत ही अमूल्य वस्तु थी। इस लोक में इससे अधिक और किसी प्रकार की कामना उसे नहीं थी। हर प्रकार की आकांक्षाओं का परित्याग तो वह कर ही चुका था, फिर वह कामना किस वस्तु की करता ?

मस्तक का भारीपन उस समय भी कम नहीं हुआ था। उठने का प्रयत्न देवनाथ ने किया, परन्तु वह उठ नहीं सका। इससे क्लान्त-भाव से तेल से भीगी हुई तकिया पर मस्तक रखकर उसने आँखें मूँद लीं। दृष्टि उसकी उस समय भी अस्थिर थी, ज्वाला निकल रही थी उसमें से। मन ही मन उसने सोचा—रहने दो अभी। बाद को देखूँगा वह लिफाफा। इस समय तो दिखाई भी न पड़ेगा आँख से। परन्तु आँखें मूँदते ही एकाएक ट्रेन का दृश्य फिर उसे स्मरण हो आया। किस प्रकार अकस्मात् मुलाकात हो गई थी उसकी प्रभा से ! अन्यथा क्या उसने कभी यह आशा की थी कि वह इस प्रदेश में भी आवेगी मुझे दर्शन देने के निमित्त ?

आज देवनाथ को अपनी मानसिक अवस्था पर भी बड़ा परिताप हो रहा था। वह सोच रहा था—कितना अहङ्कार था मेरे हृदय में ! मैं

यही समझे बैठा था कि सुख-दुख के कारण किसी प्रकार का विकार ही नहीं उत्पन्न हो सकता मुझमें ! जिससे मैं प्रेम करता हूँ, केवल उसे सुखी करने के उद्देश्य से मैंने अपने सारे सुखों का, सारी कामनाओं का वलिदान कर दिया है। स्वयं मेरा चित्त कामनाहीन है। परन्तु अब मैं यह अनुभव कर पाया हूँ कि मेरा वह अहङ्कार निरर्थक था ! मैं भ्रम में पड़ा हुआ था। विशुद्ध प्रेम के लिए किसी का भी सान्निध्य अपेक्षित नहीं होता। जितने प्रकार के भी ऐहलौकिक प्रेम हैं, उन सबमें वासना की गन्ध होती ही है। विभिन्न प्रकार के आकर्षणों से पूर्ण इस संसार की माया ममता में फँसे हुए एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति का, विशेषतः एक रमणी के प्रति एक पुरुष का, प्रेम चाहे कितना ही उच्च क्यों न हो, किन्तु उसका पूर्णरूप से निष्काम होना सम्भव नहीं है। और न सही, तो प्रभा को कम-से-कम एक बार ध्यानपूर्वक देख लेने की कामना तो मेरे मन में थी ही। जी भरकर कभी मैंने देखा तो था नहीं उसे ! कदाचित् मेरी यह आकांक्षा पूर्ण करने के ही निमित्त यात्रा की थी उसने इस अत्यन्त अस्वास्थ्यकर प्रदेश की। हा नाथ, इस दीन-हीन के प्रति भी तुम्हारे हृदय में इतनी अपार दया है !

उस दिन प्रभा से अकस्मात् मुलाकात हो जाने के बाद देवनाथ के सामने एक समस्या आ उपस्थित हुई। रेल के डिब्बे में प्रवेश करते समय दौड़ती हुई दृष्टि से ही प्रभा को देखकर देवनाथ ने अनुभव कर लिया था कि अब इसका कायापलट हो गया है। इसकी शारीरिक अवस्था में इस प्रकार का आकाश-पाताल का परिवर्तन हो गया है मानो अब यह किसी दूसरे ही युग में निवास करने लगी है। आज से डेढ़ वर्ष पहले विवाह के अवसर पर जब प्रभा मेरे पास बैठी थी तब अपरिमित स्वास्थ्य और सौन्दर्यरूपी सम्पत्ति की अधीश्वरी थी। उसके शरीर की उस समय की आभा, उस समय के लावण्य के सामने ठहरने योग्य और कोई सुन्दरी संसार में कदाचित् विधाता ने भेजी ही नहीं। परन्तु अब उसमें अभग्न स्वास्थ्य की वह पूर्ण ज्योति

नहीं विराजमान है। केश-कलाप उसके अस्त-व्यस्त हो गये हैं। उनके बीच में विराजमान संसार को लुभा लेनेवाला उसका मुख उसी प्रकार मोहमय है। परन्तु उसकी सुललित 'ग्रीवा' तथा कपोलों की पूर्णता में बहुत कुछ कमी आगई है।

प्रभा की इस परिवर्तित अवस्था ने देवनाथ के हृदय में वेदना उत्पन्न कर दी। उसके मन में आया—उसकी अवस्था में इस प्रकार के घोर परिवर्तन का कारण क्या है? बाद को प्रभा ने मुहूर्त्त-मात्र के लिए देवनाथ की ओर जब ताका तब ऊपर से तो देवनाथ ने अपने आपमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं परिलक्षित होने दिया, किन्तु भीतर ही भीतर विस्मय के मारे वह व्याकुल हो उठा। वह सोचने लगा—यह कैसी दृष्टि है प्रभा की? पहले तो जब कभी मैंने अपनी ओर उसे ताकते देखा था, उसमें यही भाव प्रतीयमान हुआ था कि मैं स्वयं अपनी स्वामिनी हूँ और दूसरे की ओर दृष्टि फेरकर मैं उसके ऊपर कृपा ही करती हूँ। बिजली की लपलपाहट से पूर्ण काले मेघों के समान उसके नेत्रों के उज्ज्वल तारे आज नवीन रूप में परिवर्तित हो उठे हैं। आज तो उसके नेत्रों की दृष्टि स्निग्ध ज्योत्स्ना के समान शान्त है, शीतल है। कोमल किसलय के समान दो पत्तों के बीच में वह आधी खुली हुई है, आधी ढकी हुई है। कितने सङ्कोच, कितनी लज्जा और कितने भयका भाव एक साथ ही उदित होकर उस पर अधिकार जमाये हुए है। जल के भार से उमड़े हुए मेघ के समान वह प्रगाढ़ भाव से हृदय को वेष्टित करती है और सरस आनन्द से उसे पागल कर देती है। कैसा परिवर्तन है यह! इस परिवर्तन का अर्थ क्या है?

उस दिन अपने आपको स्वाभाविक अवस्था में ले आने में देवनाथ ने पूरा-पूरा एक मुहूर्त्त का समय भी नहीं लगने दिया था, बल्कि आधे मुहूर्त्त में ही वह पूर्ण संयत हो उठा था, परन्तु उस समय जो चिन्ता उसके हृदय में उत्पन्न हुई थी, उसे दूर करने में आज भी वह समर्थ नहीं हो पाया था। वह सोचा करता कि प्रभा की उस समय की

दृष्टि तो संसार से परे थी नहीं । उसकी चितवन में पल-पल पर स्नेह, प्रेम, प्रीति, करुणा और सती रमणी का आन्तरिक प्रेम मानो बिखरा पड़ता था । उस दृष्टि में अब उस समय का-सा भाव नहीं आया जब कि प्रभा संसार के ज्ञान से हीन रहकर अपने आप में ही भूली रहती थी । परन्तु इस प्रकार का घोर परिवर्तन उसमें किसने उत्पन्न कर दिया ? परिवर्तन क्या वास्तव में हुआ है उसकी दृष्टि में, या यह रोग के कारण दुर्बल हो गये मेरे मन की केवल कल्पना है ?

ये सब बातें सोचते-सोचते काफ़ी समय व्यतीत हो गया । अन्त में दो बार के प्रयत्न के बाद देवनाथ उठकर बैठ गया । बाद को धीरे-धीरे उठ-उठकर द्वार पर से वह पत्र उठा ले आया । निर्बलता के कारण उस समय भी उसके हाथ-पैर काँप रहे थे । लिफाफे पर अङ्कित किये गये अक्षर उसके लिए बिलकुल नये थे । संयत हाथ से लिफाफा खोलकर अत्यन्त ही उत्साह के साथ वह पत्र पढ़ने लगा । पत्र प्रभा का था, देवनाथ की स्त्री का । परन्तु उसे विश्वास नहीं हो रहा था । वह सोच रहा था कि कहीं ज्वर के आवेग में कोई ऐसी अनहोनी बात तो नहीं देख रहा हूँ जो इस प्रकार के रोगियों के सामने प्रायः उदित हो-होकर उन्हें व्याकुल करती रहती हैं ? तो क्या वास्तव में यह निस्सार विवृम्भन ही तो नहीं है ?

जरा देर तक इस प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प के बाद देवनाथ के मन में आया—प्रभा के मनोभावों के परिवर्तन के सम्बन्ध में मैंने जो धारणा बना रखी है, वह यदि कहीं मिथ्या प्रमाणित हो जाय तो उसमें हानि ही क्या है ? यह संसार भी तो एक बहुत लम्बे स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । ऐसी दशा में इसे भी एक छोटा-सा स्वप्न मान लेने में क्या हानि होगी ?

बिस्तरे पर पड़े-पड़े देवनाथ ने प्रभा की चिड़ी कण्ठस्थ कर डाली । परन्तु उस चिड़ी में जो वस्तु वह खोज रहा था, वह उसे मिल न सकी । पिता की आज्ञा का पालन करने के अतिरिक्त लेखिका का कोई व्यक्ति-

गत उद्देश्य उस चिन्त्री के द्वारा नहीं प्रकट हो सका । क्या उसके हृदय में देवनाथ के प्रति सहानुभूति या सहानुभूति से भी अधिक किसी प्रकार का भाव था ? नहीं, वैसी तो कोई बात व्यक्त नहीं हो सकी ।

फिर भी उस पत्र से देवनाथ को बहुत ही सन्तोष हुआ । वह सोचने लगा—कम से कम मेरी स्त्री का लिखा हुआ तो यह पत्र है । मेरे लिए यह बहुत ही मूल्यवान् है । यह सोचकर देवनाथ ने इतनी सावधानी के साथ उसे मोड़कर तकिया के नीचे रख लिया, मानो माता सेाते हुए शिशु की पीठ पर थपकियाँ दे रही है । बाद को उच्छ्वास की पहली बाढ़ में ही उसने उत्तर लिखना आरम्भ किया । परन्तु दो-तीन पंक्ति लिखने के बाद ही वह सावधान हो गया और पत्र का जो अंश उसने लिख रक्खा था उसे फाड़कर बाहर फेंक दिया ।

देवनाथ प्रतिदिन इष्टदेव की जिस मूर्ति का ध्यान किया करता था उसका स्मरण करके कुटीर के द्वार के पास खड़े-खड़े पश्चात्ताप करने लगा । हाथ जोड़कर वह कहने लगा—माता, मैं इतना नीच, इतना क्षुद्र हो गया हूँ ? मुझे शक्ति दो कि मेरे जीवन का जो एक अत्यन्त क्षुद्र कार्य्य है उसे तो कम से कम समाप्त कर जाऊँ । जीवन में मैं अविश्वासी तो न सिद्ध हो पाऊँ ! मुझसे इतनी आशा प्रभा ने अवश्य की थी कि मैं जो प्रतिज्ञा कर लूँगा उसे भङ्ग न होने दूँगा । मुझे यह बात सावधानी के साथ स्मरण रखनी चाहिए ।

दूसरे दिन ज्वर आने से पहले देवनाथ ने जो पत्र लिखा था, वह राधारानी के हाथ में पहुँच गया था ।

बीसवाँ परिच्छेद

अब द्वारकानाथ में इतना धैर्य नहीं रह गया था कि वे घर में बैठे-बैठे दामाद को भेजे गये पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा करते। उन्होंने जो आदमी भेजा था, उसने एक तार भेजा। तार का आशय था कि दामाद बाबू अब नहीं हैं। वे यहाँ से कब गये हैं, इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चल रहा है।

तार पहुँचने से पहले ही द्वारकानाथ भी घर छोड़ चुके थे। साथ में उन्होंने प्रभा को भी ले लिया था। घर से चलते समय प्रभा को अपने विद्रोही मन के साथ बहुत ही भयङ्कर संग्राम करना पड़ा था। वह सोच रही थी कि स्वामी के आन्तरिक आदेश का उल्लङ्घन करके मैं उनके पास कैसे जाऊँ ? मैंने तो अग्नि, देवता और शालिग्राम-शिला को साक्षी देकर यह प्रतिज्ञा की है कि सदा उनकी आज्ञा की अनुवर्तिनी होकर रहूँगी। जीवन में उन्होंने मुझे यही एकमात्र आज्ञा भी दी है। ऐसी दशा में इसका पालन करना मेरे लिए अनिवार्य है, जीवन रहे या न रहे।

अन्त में मन के विद्रोह को दमन करने में प्रभा को सफलता नहीं मिली। मन ने कहा—यह क्या युक्ति-तर्क पर विचार करने का समय है, जब कि स्वामी तेरे एक ऐसे प्रदेश में, जहाँ अपना कोई नहीं है, रोग-शय्या पर पड़े-पड़े मृत्यु-काल की प्रतीक्षा कर रहे हैं ? उनके प्रति प्रीति और भक्ति से हृदय को परिपूर्ण किये हुए उनकी मृत्यु के समाचार की प्रतीक्षा करते रहना कदापि उचित नहीं है। उनका तिरस्कार करके जो महापातक तुमने किया है, उसका अणुमात्र प्रायश्चित्त तो तुम कर लो ! तुमने जो अत्यन्त गर्हित कार्य कर रक्खा है, उसके समान महापातक संसार में दूसरा नहीं है। अत्यन्त ही क्रोशकर है इसका

प्रायश्चित्त ! भूसी की आग से भी अधिक भयानक है। जले पर नमक छिड़क देने पर जो यन्त्रणा होती है, इसकी ज्वाला उससे कहीं अधिक दुःखदायी होती है।

सङ्कल्प-विकल्प तथा सोच-विचार में प्रभा ने दो दिन का सुदीर्घ समय व्यतीत कर दिया। अन्त में धैर्य का अवलम्बन करने में असमर्थ होकर वह पिता के साथ तैयार हो गई। पिता द्वारकानाथ का मन घर में एक क्षण के लिए भी नहीं लग रहा था। केवल पुत्री के न तैयार होने और कर्त्तव्य-निर्धारण में असमर्थ होने के कारण वे किसी प्रकार पड़े हुए थे। एक बड़े ज़मींदार के घर में उन्होंने जन्म ग्रहण किया था। एकाएक घर से निकल पड़ने का उनका अभ्यास नहीं था। तैयार होते-होते दो-चार दिन लग जाते थे। परन्तु अब उन्होंने एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होने दिया। कन्या की सम्मति पाते ही वे घर से निकल पड़े।

इस यात्रा के अवसर पर द्वारकानाथ ने न तो कोई वैसा सामान लिया जिससे वे सुविधापूर्वक यात्रा कर सकते, और न उन्होंने मुहूर्त्त-आदि का ही विचार किया। प्रभा को चलते समय केवल इतना ही ध्यान था कि स्नायविक दुर्बलता के प्रतीकार के लिए पिता जी जिन ओषधियों का सेवन किया करते हैं, साथ में उनका होना आवश्यक है। घर से निकलकर शोक-विह्वल पिता के पीछे-पीछे प्रभा इस प्रकार चल रही थी, मानो उसे घसीटकर कोई यन्त्र लिये जा रहा था, मानो उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं था। उस समय केवल एक बात सुनने के लिए वह उत्सुक थी। वह बात यह थी कि समय पर उसका पत्र पहुँच गया है, या नहीं, उसके हृदय की बात स्वामी को मालूम हो गई है या नहीं। इसके अतिरिक्त मानो उसके हृदय की अन्य समस्त आकांक्षाओं का अन्त हो गया था।

प्रभा का हृदय जो इस प्रकार आकांक्षाहीन, इस प्रकार जड़ हो उठा था; उसका कारण एकमात्र यही नहीं था कि उसके पति की शीघ्र

ही मृत्यु हो जाने की आशङ्का थी। पति की मृत्यु की सम्भावना से तो वह दुःखी थी ही, किन्तु अधिकतर वह इसलिए दुःखी थी कि पति ने उसे ठेलकर अपनी मृत्यु-शय्या के पास से हटा दिया था, मृत्यु-शय्या के समीप उपस्थित होने से उसे रोक दिया था। स्वामी का दिया हुआ प्रभा के लिए यह बहुत ही कठोर दण्ड था। उस दण्ड के कारण उसके हृदय में जो घाव हुआ था, उसकी ज्वाला अत्यन्त ही विकराल थी, अत्यन्त ही अशान्तिप्रद थी।

मृत्यु ने यदि अपने ममताहीन हाथों से प्रभा को वैधव्य प्रदान कर दिया होता, तो कदाचित् वह इस प्रकार दुःखी न होती; यदि स्वामी की मृत्यु-शय्या के समीप बैठकर कुछ काल तक सेवा करने का अवसर उसे मिल जाता, स्वामी से उसे इस प्रकार का क्षमा-हीन अन्तिम सन्देश न सुनने को मिलता। इस सन्देश के कारण प्रभा ने जिस यन्त्रणा का अनुभव किया था, वह वैधव्य की यन्त्रणा से कितनी अधिक दुस्सह, कितनी अधिक कठोर थी। स्वामी ने अपने समीप न आने के लिए प्रभा से जो आन्तरिक अनुरोध किया था, वह रह-रहकर उसे स्मरण हो आता और हृदय में बेकली उत्पन्न कर देता। घाव पर चढ़ाई गई दवा का तीखापन जिस प्रकार कभी-कभी घाव की यन्त्रणा से भी अधिक क्लेशकर हो उठता है, ठीक उसी प्रकार स्वामी का यह अनुरोध प्रभा के लिए चिरकाल की विरह-व्यथा से कहीं अधिक क्लेशकर, कहीं-कहीं अधिक बेकली उत्पन्न करनेवाला हो उठा था। उस अनुरोध को हृदय में स्थान देकर जीवित रहना प्रभा के लिए कष्टकर हो उठा था, किन्तु मृत्यु की शरण ग्रहण करने का भी उसके पास कोई मार्ग नहीं था।

ज्यों-त्यों करके प्रभा पिता के साथ कलकत्ता पहुँची। वहाँ स्थालदह स्टेशन पर गाड़ी पर सवार होकर आसाम के लिए यात्रा करनी थी। वर्षा-ऋतु का समय था। आकाश मेघों से आच्छादित था। उस अञ्चल में प्रतिदिन ही ज़ोरों की वर्षा होती, प्रतिदिन ही तूफ़ान आता।

द्वारकानाथ यह देखकर बहुत ही चिन्ता में पड़ गये। अधिक चिन्ता उन्हें हो रही थी आसाम-प्रदेश के मार्ग की दुर्गमता के कारण। एक वह समय था जब कि इस प्रकार के दुर्दिन के समय निरापद स्थान में भी अपनी प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्री प्रभा को एक क्षण के लिए घर से बाहर निकलने देना, द्वारकानाथ को सह्य नहीं होता था, किन्तु उसे वे स्वेच्छा से ऐसे संकटापन्न मार्ग में लिये जा रहे थे। इस आँधी-पानी की ओर उनका ध्यान नहीं था ! उनके हृदय में इस प्रकार का आकाश-पाताल का अन्तर कैसे हो उठा, इस बात पर विचार करते समय वे स्वयं आश्चर्य में पड़ जाया करते थे। इधर प्रभा के मन में यह बात आ रही थी कि इस दुर्गम मार्ग में यदि किसी प्रकार की दुर्घटना हो जाती तो अच्छा ही था। कम से कम स्वामी के अनुरोध की रक्षा तो हो ही जाती।

स्यालदह स्टेशन के सुविस्तृत प्लेटफार्म पर द्वारकानाथ प्रथम श्रेणी के एक डिब्बे के सामने खड़े-खड़े गाड़ी छूटने के समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रभा भी अन्यमनस्क भाव से डिब्बे में बैठी हुई थी। इतने में अकस्मात् अपने एक बाल्यबन्धु का देखकर द्वारकानाथ ने उनकी ओर दृष्टि फेरी। परस्पर यथोचित सम्मान-प्रदर्शन के बाद मित्र के प्रश्न के उत्तर में अपनी शीघ्र ही आनेवाली विपत्ति का परिचय देते हुए विषाद की सजीव मूर्ति के समान डिब्बे में बैठी हुई पुत्री की ओर मुँह फेरकर उन्होंने एक लम्बी साँस ली। ठीक उसी समय कुछ लोग एक स्टेचर लिये हुए उनके पास से ही होकर निकले। उनके साथ में एक आदमी पुलिस का था और एक बाबू थे, जो शायद डाक्टर थे।

स्टेचर पर एक लम्बे से आदमी का शरीर पड़ा हुआ था। शरीर में केवल अस्थि-पञ्जर ही अवशिष्ट थे। जीवन का चिह्न न रह जाने के कारण पीला हो गया था उसका मुख। मेघ के आवरण से छन-छन-कर निकलती हुई सूर्य की किरणों के पड़ने के कारण वह और भी पीला मालूम पड़ रहा था। उस शरीर को ढकने के लिए कोई वस्त्र नहीं डाला

गया था। मस्तक के नीचे कोई तकिया भी नहीं था। इधर स्टेचर को लेकर चलनेवाले लोग बड़ी ही तेज़ी के साथ पैर बढ़ा रहे थे। इससे ज़ोर-ज़ोर से हिलने के कारण मस्तक कभी इस ओर लटक पड़ता, कभी उस ओर लटक पड़ता। एक हाथ भी लटकने लगा था। उसकी पतली और लम्बी-लम्बी उँगलियों के नाखून नीले पड़ गये थे। देखने पर स्पष्ट रूप से यह मालूम पड़ रहा था कि जिस किमी भाग्यहीन व्यक्ति का यह शव है, उसने सुदीर्घ काल तक क्षयरोग की यन्त्रणा भोगते-भोगते सदा के लिए इस भयङ्कर व्याधि से छुटकारा प्राप्त किया है।

स्टेचर लेकर चलनेवालों की इस प्रकार की असावधानी से रुष्ट होकर साथ में चलनेवाले बाबू साहब ने ज़ोर से डाँटा—धीरे-धीरे चलो। इधर प्रभा ने भी इतने आदमियों के एक साथ चलने के कारण या स्टेचर पर पड़े हुए आदमी के सम्बन्ध में हृदय में अदम्य कौतूहल होने के कारण खिड़की के पास से बाहर की ओर अपनी दृष्टि फेर दी थी। कुछ क्षण तक शव के पीले मुख की ओर वह अनिमेष दृष्टि से ताकती रही। मन ही मन उसने कहा—अवश्य यह आदमी बड़ी देर का मरा हुआ है। मुख पर इसके जीवन की ज़रा-सी भी ज्योति तो मालूम नहीं पड़ रही है। मानो किसी रुधिरपान करनेवाले जीव ने इसके शरीर का सारा रुधिर पान कर लिया है, उस सर्वग्रासी ने विन्दु-मात्र भी रक्त इसके शरीर में रहने नहीं दिया।

स्टेचर लेकर चलनेवालों की गति उक्त बाबू साहब की डाँट के कारण अब बहुत मन्द हो चुकी थी। इधर वे उस डिब्बे के बिलकुल सामने आ गये थे, जिसमें कि प्रभा बैठी हुई थी। इससे उसने शव को भली-भाँति देख लिया। फिर उसकी दृष्टि उस ओर न जा सकी। एकाएक बाण से बिद्ध हो जाने के कारण व्याकुल हो उठी हरिणी के समान वह छटपटाने लगी। उसके हृदय को भेदकर एकाएक एक हाहा-कार की ध्वनि उदित हो आई—बाबू जी, वह कौन ? देखो, उधर देखो। वह कौन ! भगवान्, यह क्या दिखलाया तुमने मुझे ! क्या दिखलाया !

इकीसवाँ परिच्छेद

द्वारकानाथ जिन महानुभाव से उस समय बातें कर रहे थे, उनका नाम था जगत बाबू। कलकत्ता के वे एक बहुत ही प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध डाक्टर थे। द्वारकानाथ और जगत बाबू बहुत दिनों तक साथ-साथ पढ़ते थे और इनमें परस्पर बहुत अधिक घनिष्ठता थी। इसलिए अपने प्रारम्भिक जीवन के एक अभिन्न-हृदय मित्र से अकस्मात् मुलाकात हो जाने के कारण उनका दुःख का भाव ज़ोरों से उमड़ आया था और वे तन्मय होकर अपनी गाथा उन्हें सुना रहे थे। इससे स्टेचर पर पड़े हुए शव या स्टेचर को लेकर चलनेवालों की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जा सकी। परन्तु कन्या के एकाएक इस प्रकार चीख पड़ने के कारण विस्मय से अभिभूत होकर वे चारों ओर दृष्टि दौड़ाने लगे। स्टेचर तब तक कुछ आगे निकल चुका था। इससे उनका ध्यान उस ओर नहीं जा सका। तो भी हृदय में एक अज्ञात आतङ्क समुद्र की तरङ्ग के समान ही उठ आया। अत्यन्त ही व्यग्र भाव से मुँह फेरकर व्याकुलता-पूर्ण कण्ठ से उन्होंने कहा—कहाँ राधारानी, कहाँ ? कौन है ?

प्रभा का शरीर थरथर काँप रहा था। तो भी अपने आपको सँभाल रखने के लिए, जिह्वा हिलाकर पिता से अपनी बात कह देने भर की शक्ति सञ्चित कर लेने के लिए वह अपने साथ भयङ्कर युद्ध कर रही थी। अपनी असमर्थ उँगली के किसी प्रकार उठाकर प्रभा ने स्टेचर की ओर सङ्केत किया और लड़खड़ाती हुई ज़बान से बोली—वह देखो बाबू जी, अभी ही कहीं लेकर चले जायेंगे वे लोग। वे वहाँ हैं। देखो, देखो, दौड़ो तुम।

प्रभा के इन व्याकुलतापूर्ण शब्दों ने द्वारकानाथ को भी विह्वल कर दिया। मूर्च्छित होकर वे गिरने ही को थे कि ठीक उसी समय जगत बाबू ने एक ऐसी बात कही, जिससे वे सँभल गये। उन्होंने

कहा—चलो द्वारकानाथ, देखें तो, बिटिया का सन्देह कहीं ठीक ही तो नहीं है ? यह संसार विचित्रतामय है, इसमें कुछ भी असम्भव नहीं है ।

उतावली के साथ स्टेचर के पाम पहुँचकर द्वारकानाथ ने शव को देखा । उसे देखते ही अधीर भाव से चिल्लाकर वे बोल उठे—देवनाथ ! हा मेरे बच्चे, अन्त में जाकर यह दशा हुई तेरी !

द्वारकानाथ जैसे एक अत्यन्त ही उच्च श्रेणी के व्यक्ति को शव की ओर इस प्रकार अधीर भाव से ताकते देखकर स्टेचर के साथ के डाक्टर को बड़ा आश्चर्य हुआ । विस्मित भाव से उनकी ओर ताकता हुआ वह खड़ा हो गया और कहने लगा—तीसरे दर्जे के एक डिब्बे में पड़े हुए थे ये । अभी कुछ-कुछ जीवन की आशा है, इसलिए अस्पताल भेज रहा हूँ इन्हें । क्या ये आपके कोई परिचित हैं ? मेरी तो धारणा है कि आपको भ्रम हो गया है । यह एक बहुत ही निर्धन व्यक्ति है । पास में इसके एक पाई भी नहीं निकली । देखते नहीं हैं आप ? कैसे फटे-पुराने कपड़े पहने हुए है यह !

जगत बाबू ने डाक्टर से कहा—नहीं, इन्हें भ्रम नहीं हुआ है । ये इन्हीं के दामाद हैं । इस प्रकार अत्यन्त निर्धन अवस्था में ये क्यों हैं, यह बात बतलाने के लिए एक लम्बी कहानी कहनी पड़ेगी । परन्तु इसके लिए यह समय उपयुक्त नहीं है । इस समय यह अधिक अच्छा होगा कि शव मेरे स्थान पर पहुँचा दीजिए । मैं भी एक डाक्टर हूँ और मेरे यहाँ इनकी प्राण-रक्षा के लिए वे सभी व्यवस्थायें की जा सकेंगी जो मनुष्य की शक्ति से परे नहीं हैं ।

जगत बाबू जैसे जगत्प्रसिद्ध चिकित्सक के इस अनुरोध को रेलवे के डाक्टर के अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं था । उसने कुलियों से कहा कि खूब सावधानी के साथ स्टेचर लेकर बाबू साहब के बँगले की ओर चलो । किन्तु सावधान, स्टेचर ज़रा भी हिलने-डुलने न पावे । देवनाथ का जो हाथ नीचे की ओर लटक रहा था उसको स्टेचर पर रखने के लिए डाक्टर ने स्वयं उठाया । परन्तु हाथ का स्पर्श करते

ही वह निरुत्साहित हो उठा । बात यह थी कि वह हाथ उस समय बिलकुल ही शीतल हो उठा था । उसमें नाड़ी का ज़रा भी स्पन्दन नहीं था ।

स्टेचर को अपने बँगले की ओर खाना करके जगत बाबू ने द्वारकानाथ को भी एक गाड़ी पर बैठाया । पिता के साथ ही प्रभा भी गाड़ी पर बैठ गई, परन्तु उस समय उसे अनुभव हो रहा था कि मानो मुझमें जीवन नहीं है, कोई यन्त्र मुझे खींचकर ले आया है और इस गाड़ी पर डाल गया है । गाड़ी पर बैठे ही बैठे क्षण भर के बाद उसके मन में आया कि मानो इस मर्त्यलोक से मेरे सम्बन्ध का अन्त हो चुका है । अपने जीर्ण शरीर का परित्याग करके मैं दूसरे लोक में आगई हूँ । यम की यन्त्रणा के कारण मुझे ये सारी विभीषिकायें देखने को मिल रही हैं । मुझे यहाँ अपने दुष्कर्मों का दण्ड भोगना पड़ रहा है ।

ज़रा देर के बाद ही सब लोग जगत बाबू की सुविशाल अट्टालिका के पास पहुँच गये । चिकित्सा-विज्ञान-सम्बन्धी अपने अगाध पाण्डित्य तथा आश्चर्यचकित कर देनेवाली क्रिया-कुशलता के कारण जगत बाबू ने जैसे अपने यश से समस्त जगत् को ध्वलित कर दिया था, वैसे ही उन्होंने अतुलित विभव भी प्राप्त किया था । अपनी शोभा से इन्द्र-भवन को भी लज्जित कर देनेवाली उनकी सुविशाल अट्टालिका अनायास ही इस बात को प्रमाणित कर देती थी । उक्त बाबू साहब के आदेश के अनुसार स्टेचर ऊपर के कमरे में ले जाया गया । साथ ही साथ दौड़ती हुई प्रभा भी उसी कमरे में पहुँची । उसे आशङ्का हो रही थी कि कहीं शव को कमरे में बन्द न कर दिया जाय और मुझे उसके पास तक पहुँचने का अवसर ही न मिल सके ।

एक लम्बे-चौड़े और खूब सजे-सजाये कमरे के मध्य भाग में एक पलंग पड़ा था । उस पर साफ़-सुथरा और गुलगुला बिस्तर लगा हुआ था । उसी के पास ले जाकर स्टेचर रक्खा गया । कमरे में उस समय जितने आदमी थे, वे सभी निश्चल भाव से उसी ओर ताक रहे थे । सभी के मुखमण्डल पर उत्सुकता की रेखा उदित हो आई थी । वह

बड़ा ही कठिन समय था। उस समय इस बात का निर्णय होने जा रहा था कि उपेक्षित भाव से रेल के डिब्बे में पड़े हुए जिस शरीर को उठाकर इस स्वर्गपुरी जैसे सुन्दर स्थान में लाया गया है, उसमें वास्तव में प्राण हैं या नहीं।

प्रभा को उस समय अपनी अवस्था की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं था। अपरिचित आदमियों की इस भीड़ में भी अपने अस्त-व्यस्त हो गये वस्त्र को सँभालने का ध्यान उसे नहीं था। व्याकुल भाव से वह खड़ी थी। जगत बाबू के देवनाथ की नाड़ी का स्पर्श करते ही व्याकुल कण्ठ से वह बोल उठी—चाचा जी, मेरे स्वामी इतने दिनों के बाद लौटकर मेरे पास आ गये !

प्रभा के कण्ठ से ये थोड़े-से शब्द मानो कूप में निकले थे।

अपने सहकारियों की सहायता से जगत बाबू ने देवनाथ के शव को बड़ी ही सावधानी के साथ उठाकर बिस्तरे पर रक्खा।

तब उन्होंने कहा—अभी नीराश होने का कोई कारण नहीं है। नाड़ी नहीं चल रही है अवश्य, किन्तु शरीर में प्राण हैं, बहुत ही धीरे-धीरे साँस चल रही है। द्वारकानाथ, तुम अधीर न होओ। अच्छा होगा कि तुम इस कमरे से निकलकर बरामदे में चले जाओ और हवा में बैठकर ज़रा-सा अपने को स्वस्थ करने का प्रयत्न करो। बेटी राधारानी, तुम भी इस समय बरामदे में चलकर हवा में बैठो। इस तरह अधीर होने से तो काम चलेगा नहीं। धैर्य का अवलम्बन करो। तुम्हारे स्वामी को बचाने के लिए मैं शक्ति भर कुछ उठा न रखूँगा !

जगत बाबू के ये शब्द निरर्थक नहीं हुए। पिता के समान ही प्रभा ने भी मुँह से कोई बात निकाले बिना ही उनकी आज्ञा का पालन किया। बरामदे के नीचे ही सड़क पर अविराम गति से ट्राम, मोटर और घोड़ागाड़ी-आदि दौड़ रहे थे। सड़क के दोनों ओर की पटरियों पर पैदल चलनेवालों की भी काफ़ी भीड़ थी। प्रभा शून्य दृष्टि से उन सबकी ओर ताक रही थी। वह सोच रही थी कि इस धरणी के वक्ष पर से, जिसमें

कि काम-काज की अधिकता के कारण मनुष्य-मात्र को सदा व्यग्र रहना पड़ता है, कुछ मुहूर्त में ही मेरी सारी आशाओं का अन्त हो जायगा । अगणित नक्षत्रों की प्रभा से देदीप्यमान यह जो अनन्त नील आकाश दिखाई पड़ रहा है, उसी पर स्थित किसी एक नूतन राज्य में अपना दुःख क्लेश से मुक्त जीवन कर मेरे जीवनसर्वस्व चले जायँगे । इस आकाशमण्डल पर वह राज्य कहाँ है और वहाँ का वातावरण इनके कितना अनुकूल होगा, इस बात का ज्ञान तो मुझे है नहीं । पता नहीं, वहाँ किस प्रकार की शान्ति उनके लिए सुरक्षित है !

बरामदे के एक कोने में खड़ी-खड़ी प्रभा इन्हीं सब बातों पर विचार कर रही थी । वहाँ की ठंडी-ठंडी हवा लगने के कारण ज़रा देर के बाद उसका चित्त कुछ स्वस्थ हो उठा । तब वह पति के उस पत्र में लिखी हुई बातों पर विचार करने लगी जो उसने भयङ्कर रुग्णता की अवस्था में लिखा था । अब उसकी समझ में यह बात भी आ गई कि उन्होंने पत्र लिखकर आसाम के लिए यात्रा न करके उसे घर पर ही रहने का आदेश क्यों किया था ? स्वामी के हृदय में वास्तव में मेरे प्रति रोष का भाव नहीं था । उनकी यह भी आकांक्षा नहीं थी कि मैं उनके समीप तक न पहुँच पाऊँ । मृत्यु से पहले वे स्वयं हम लोगों के बीच में लौट आने के लिए इच्छुक थे । हे नारायण, यदि वे जाकर उस सूने मकान में पहुँच जाते ! यह तो विधाता का विधान था कि इस रूप में हम उनको पा गये ।

प्रभा अभी अधिक समय तक बरामदे में खड़ी न रह सकी । लौटकर वह फिर कमरे में गई । उस समय उस कमरे में दो-एक नये आदमियों ने भी प्रवेश किया था । उन सबके सम्मिलित उद्योग से रोगी के सन्दन-हीन शरीर पर से सभी मैले वस्त्र उतार डाले गये थे । प्रभा समीप आ गई । रोगी के मैले और फटे हुए कुर्ते की जेब से लिफाफे में भरी हुई एक चिट्ठी गिर पड़ी थी । लिफाफे के ऊपर देवनाथ के ही हाथ की लिखावट थी । लिफाफे पर टिकट भी लगा हुआ था, किन्तु डाक में वह डाला नहीं गया था । दूर से ही पति के हाथ की लिखावट पहचानकर

प्रभा ने वह पत्र उठा लिया। उस पर स्वयं उसी का नाम तथा मनोहर-पुर का पता लिखा हुआ था। प्रभा के कण्ठ से अकस्मात् एक आर्त्त स्वर निकल पड़ा—तो जीवन के अन्तिम मुहूर्त्त में वे अपनी इस ममताहीन हत्याकारिणी को भूल नहीं सके? हाय, इस तरह के उदार-हृदय, क्षमाशील तथा स्नेहमय स्वामी को मैंने अपने ही दोष से खो दिया है।

जगत बाबू प्रभा के समीप आकर खड़े हुए। स्नेहपूर्वक उसके मस्तक पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—बेटी राधारानी, एक साधारण श्रेणी की स्त्री के समान तुम विपत्ति से अधीर मत होओ। तुम बाहर चलकर विश्राम करो। इस बात का विश्वास रखो कि इनकी सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो पावेगी। कलकत्ता—जैसे सुविशाल नगर में जितने भी नामी-नामी डाक्टर हैं, उन सबको बुलवा भेजा है मैंने। इनकी प्राण-रक्षा के लिए मनुष्य की शक्ति के द्वारा जो कुछ भी सम्भव है, वह सब किया जायगा। जाओ बेटी, जाओ। तुम अपना चित्त शान्त करने का प्रयत्न करो। जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक तो निराशा की कोई बात ही नहीं है। यह भी सम्भव है कि इनकी चेतनता अब प्रति-मुहूर्त्त ही जाग्रत् हो। उस अवस्था में बहुत ही धैर्य रखना आवश्यक होगा। वैसे समय में यदि तुम कातर हो उठोगी तो मुहूर्त्त-मात्र में ही सर्वनाश हो सकता है। इसलिए तुम्हें अपना मन दृढ़ करना चाहिए।

बाईसवाँ परिच्छेद

उस समय प्रभा की चेतनता फिर जाग्रत् हो आई। विस्मित भाव से वह सोचने लगी—अहा ! उत्तरोत्तर चेतनता जाग्रत् हो सकती है उनकी ! हे मेरे इष्ट-देवता, क्या ऐसा समय सन्ध्या देखने में आवेगा ?

चिन्ता-मग्न प्रभा को फिर सावधान करने हुए जगत बाबू ने कहा—
बेटी प्रभा, विलम्ब न करो। तुम बाहर चलकर अपना चित्त स्वस्थ करो। बगलवाला कमरा खाली है। उसी में चलकर विश्राम करो। अधीर होने से तो काम चलने को है नहीं बेटी !

प्रभा उस कमरे से निकलने को किमी प्रकार भी तैयार नहीं हो रही थी। उसने कहा—नहीं चाचा जी, मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी। एक बगल मुझे भी पड़ी रहने दो। मैं चुपचाप पड़ी रहूँगी, कुछ बोलूँगी नहीं। सम्भव है कि उनकी चेतनता जाग्रत् हो आने के बाद भी आप मुझे बुलाना भूल जायँ। यह भी सम्भव है कि मेरे आने में ही विलम्ब हो जाय। नहीं चाचा जी, मुझे यहीं पड़ी रहने दीजिए। कृपा करके यहाँ से हटाइए नहीं।

जगत बाबू ने प्रभा को बहुत समझाया। उन्होंने उसे विश्वास दिलाया कि तुम्हारे स्वामी की चेतनता जाग्रत् होने ही मैं तुम्हें बुलाऊँगा। परन्तु यदि तुम स्थिर होकर कार्य न करने दोगी तब तो कोई काम बन न सकेगा। इससे तुम्हें इस समय मेरी एक-एक बात को बहुत ही धैर्य-पूर्वक मान लेना चाहिए।

डाक्टर साहब के इस प्रकार के आन्तरिक अनुरोध के कारण प्रभा किसी सम्मोहन-मन्त्र के-से वश में होकर उस कमरे से निकल गई और जगत बाबू ने जिस कमरे में जाने का उसे आदेश किया था, उसी में उसने प्रवेश किया। उस समय उसमें इतनी भी शक्ति नहीं रह गई थी कि वहाँ बैठकर आँसुओं के ही रूप में अपने शोक का उद्गार निकालकर

वह मन का भार कुछ हलका कर ले। शोक और दुःख के कारण जितनी वह व्याकुल नहीं थी, उससे कहीं अधिक विह्वल थी विस्मय के कारण। विह्वलता से अभिभूत होने के ही कारण वह एक प्रकार से जड़-सी हो गई थी। किसी भी विषय को वह अनुभव ही नहीं कर पाती थी।

मनुष्य के जीवन में जब कभी अकस्मात् कोई ऐसी घटना हो जाती है, जिसके घटित होने की उसने कभी कल्पना तक नहीं की होती तब उसके कारण वह इतना अधिक प्रभावित हो उठता है कि उस समय उसे जीवन की वास्तविक बातों तक का ज्ञान नहीं रह जाता, साथ ही स्मृति-पट पर उदित होनेवाली हर एक बात उसे स्वप्न-सी मालूम पड़ने लगती है। प्रभा की भी उस समय वैसी ही अवस्था थी। मैं कहाँ हूँ, कैसी अवस्था में हूँ और यहाँ किस लिए आई हूँ, आदि बातों की ओर उसे समुचित ध्यान होना तो दूर रहा, वह उस समय कमरे में लगे हुए पत्थर की कठोरता तक का अनुभव नहीं कर पाती थी। फर्श पर यों ही पड़ी हुई थी वह। नीचे ही कलकत्ते की कोलाहलपूर्ण सड़क से होकर चलनेवाली ट्राम, मोटर तथा गाड़ी आदि की घड़घड़ाहट की तुमुल ध्वनि उसके कानों में पड़ ही नहीं पाती थी। इस अत्यन्त ही अपरिचित कमरे में प्रवेश करते समय प्रभा के हृदय में यही एक-मात्र सत्य जाग्रत् था कि मेरे स्वामी मेरे पास लौट आये हैं। वे केवल लौटकर आये ही नहीं हैं, बल्कि मेरे लिए एक पत्र भी ले आये हैं।

निस्सन्देह उस समय प्रभा के स्वामी मृत्युशय्या पर थे। उन्हें उस निराशामय अवस्था में अपनी आँखों से देख रही थी वह। कितनी भयानक थी वह अवस्था। नितान्त ही असह्य थी वह उसके लिए। परन्तु केवल यही बात अनुभव करके कि वे मेरे पास आ गये हैं, उसकी सारी व्यथा शान्त हो गई। इतने दिनों की निराशा के कारण उसके हृदय में जो गहरा घाव हो गया था, उसकी ज्वाला को शान्त करने में यह अनुभव अत्यन्त ही शीतल प्रलेप का काम कर रहा था। उस समय उसके दग्ध हृदय में चन्दन की-सी शीतलता आ गई थी।

कुछ देर तक जड़-भाव से पड़ी रहने के बाद प्रभा एकाएक जाग-सी उठी। उसे स्मरण आ गई डॉक्टर साहब की बात। वह सोचने लगी कि कितने गुरुत्वमय दायित्व का भार मेरे ऊपर आनेवाला है ! कितनी सावधानी से मुझे काम लेना पड़ेगा उस समय जब कि उनकी चेतनता जाग्रत् हो उठेगी। परन्तु क्या ऐसा भी सम्भव है ? शरीर के किसी भी अङ्ग में तो जीवन का चिह्न अवशिष्ट नहीं है ! रंग तक बदल गया है ! यह सब क्या जीवन-काल में होता है ? ओह ! उनके फिर से जीवित हो उठने की कल्पना तक करना कितना कठिन है ?

कुछ क्षण तक एकान्त में बैठी रहने के बाद प्रभा जब स्वाभाविक अवस्था में आई तब आशा और निराशा की परस्पर विरोधी तरङ्गों के द्वारा उसका हृदय रह-रहकर आन्दोलित होने लगा। स्वामी को जिस अवस्था में उसने देखा था, उसके कारण डॉक्टर की इस बात पर कि इनकी चेतना फिर जाग्रत् हो सकती है, विश्वास नहीं होता था। उसके मन में आता कि जब नाड़ी में लेशमात्र भी स्पन्दन नहीं है, तब इनके सचेत हो उठने की आशा करना दुराशा के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? परन्तु उसके क्षण ही भर के बाद भगवान् की अपरिसीम शक्ति की ओर उसका ध्यान जाता। वह सोचती कि जिस सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने मेरे स्वामी को इस प्रकार मेरे समीप पहुँचा दिया है, उनके लिए यही क्यों असाध्य है कि मृत्यु के मुख से निकलकर वे मुझे अपनी अमृतमय वाणी सुनाने में समर्थ हो जायँ। इसी प्रकार की आशा निराशा की कितनी ही बातें सोचते-सोचते प्रभा के मन में यह बात आई कि स्वामी ने मेरे लिए जो पत्र लिख रक्खा है, उसे पढ़ लेना आवश्यक है। सम्भव है, उसमें कोई ऐसी बात लिखी हो, जिसका इसी समय जान लेना आवश्यक हो।

पत्र पढ़ने भर के लिए आवश्यक धैर्य बड़ी कठिनाई से सञ्चित करके प्रभा ने लिफाफे को उठाया। उस लिफाफे पर पत्र पानेवाले के नाम-धाम के अतिरिक्त एक कोने में यह भी लिखा था कि जिन किसी

महानुभाव के हाथ में यह पत्र लग जाय, वे कृपा करके इसे डाक में डाल देने का कष्ट स्वीकार करें। देवनाथ ने कदाचित् जीवन से निराश होकर ही यह एक पंक्ति लिफाफे पर लिख दी थी। सम्भवतः उसे आशङ्का थी कि कहीं इस पत्र को जेब में डाले ही डाले मैं इस जीवन के समस्त कार्यों का अवसान कर देने के लिए बाध्य न हो जाऊँ और मेरा यह अन्तिम सन्देश प्रभा के पास पहुँचने को रह ही जाय। अस्तु, प्रभा ने काँपते हुए हाथ से लिफाफे को फाड़ा और उसमें से वह पत्र निकालकर वह पढ़ने लगी। देवनाथ ने लिखा था—

“प्रभा, मेरे हृदय की रानी, अब मैं चल रहा हूँ। मेरी यह यात्रा कहाँ के लिए हो रही है और इसका कहाँ अन्त होगा, यह मैं नहीं जानता। सम्भव है, किसी अज्ञात राज्य में, विस्मृति के अपरिसीम अन्धकार में, मेरे लिए कोई स्थान निर्दिष्ट हो और वहाँ मुझे नवीन रूप से जीवन धारण करके अन्यान्य अगणित जन्मों के समान ही इस जन्म में भी सञ्चित किये गये पाप कर्मों के दण्ड के रूप में नारकीय यातना भोगनी पड़े। उस नवीन स्थान में युगयुगान्तरव्यापी तामसी रात्रि कितना घोर अन्धकार फैलाये हुए है, इसका तो कुछ पता है नहीं !

“प्रभा, सहधर्मिणी मेरी, मृत्यु का रहस्य जानना बड़ा ही कठिन कार्य है। इस शरीर का परित्याग करने के बाद शरीरधारी की अवस्था क्या होती है, यह बात निश्चित रूप से स्वयं धर्मराज भी नचिकेता के प्रश्न के उत्तर में नहीं बतला सके थे। फिर मेरे-जैसे एक तुच्छ प्राणी के लिए यह कहाँ सम्भव है कि कर्मसूत्र किस पथ पर खींचकर लिये जा रहा है, यह बात मैं अपनी हृदयेश्वरी को बतला सकूँ। अपने इस चिर-विच्छेद के समय मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि उस नवीन राज्य में प्रवेश करने के लिए यात्रा करने में मुझे भय नहीं है। इस समय मुझमें यदि कुछ है तो वह है केवल कौतूहल इस बात का कि यहाँ से चलकर कहाँ जाना होगा।

“प्रभा, इस समय संसार से यह जो मेरा चिर-विच्छेद हो रहा है,

उसके कारण मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं है। मेरा तो विश्वास है कि मृत्यु जीवन से अधिक सुन्दर है, अधिक शान्तिप्रद है। वह जीव को उसके स्नेह-पात्र के पास से हटाकर किसी सुदूर देश में नहीं ले जाती, बल्कि उसे वह उसके और समीप पहुँचा देती है। अस्तु, आज मैं उसी मृत्यु का आश्रय ग्रहण करके इस द्वन्द्वमय संसार की अशान्ति से छुटकारा प्राप्त करने जा रहा हूँ। यह ऐसा सुखद आश्रय है, ऐसी शान्ति-मय गोद है कि इसमें आश्रय ग्रहण कर लेने पर समस्त कर्म-विपाक का अन्त हो जाता है और अमृतमय जीवन प्राप्त होता है। आशा है, मुझे उनके चरण-कमलों में आश्रय मिलेगा, जिनका मैं कितने दिन से ध्यान करता आ रहा हूँ।

“प्रभा, सहधर्मिणी मेरी, इस महाप्रयाण के समय केवल एक बात मुझे तुमसे कहनी है। क्या तुम इस भाग्यहीन को मृत्यु के बाद क्षमा कर दोगी? आज इस संसार से विदा होते समय अपना मानसिक पाप तुमसे छिपा रखने में मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। इसलिए इस पत्र के द्वारा तुम्हें उसकी सूचना देकर मैं अपने मन का भार हलका किये ले रहा हूँ। मुझ पर पूर्णरूप से विश्वास करके तुमने जो अधिकार मुझे प्रदान किया था, उसकी रक्षा के लिए मैं सदा ही प्रयत्नशील रहा हूँ, यह बात सम्भवतः तुम्हें मालूम होगी। परन्तु अयोग्य होने पर भी, अपात्र होने पर भी, मैं तुम्हें अपने हृदय से दूर नहीं रख सका, अपनी स्त्री, अपनी सहधर्मिणी के रूप में मैं बराबर तुम्हारा ध्यान करता ही रहा हूँ। देवता के प्रति तुम्हारे हृदय में अगाध श्रद्धा होने के कारण, धर्म का आचरण करने के सम्बन्ध में तुम्हारी आन्तरिक निष्ठा होने के कारण, मैं तुम्हारे प्रति आरम्भ से ही श्रद्धान्वित हो उठा था और सर्वथा असङ्गत होने पर भी जिस समय तुम्हारे साथ मेरे विवाह का प्रस्ताव हुआ था, उस समय मैंने अनुभव कर लिया था कि दूर रहकर भी तुमसे प्रेम करना मेरे लिए असम्भव न होगा, क्योंकि विशुद्ध प्रेम केवल श्रद्धा, भक्ति और स्नेह का ही रूपान्तर है।

“प्रभा, जगत् की दृष्टि में तुम सदा मुझसे दूर रही हो, नाम-मात्र के लिए विवाह हो जाने के बाद से तुमसे मेरा किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं स्थापित हो सका है। परन्तु वास्तव में विवाह-मन्त्रों के द्वारा हम दोनों के बीच में जिस प्रेम की प्रतिष्ठा हुई थी, उसके कारण मैं कभी यह नहीं अनुभव कर सका हूँ कि मैं तुमसे दूर हूँ। मेरे हृदय में लेशमात्र भी किसी प्रकार का सांसारिक मोह या वासना का भाव तो था नहीं, इस कारण मैं तुम्हारे प्रति बहुत ही उच्च कोटि का प्रेम अपने हृदय में प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो पाया हूँ। मैं यह बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि इस विश्व-शक्ति की तुम एक संचित रूप हो और उस संचित शक्ति के रूप में ही अपने हृदय में तुम्हारा ध्यान करके मैंने तृप्ति प्राप्त की है। केवल नाम-मात्र की आकांक्षा मेरे हृदय में थी, वह भी परम-पिता की कृपा से अपूर्ण नहीं रह सकी। याद है तुम्हें उस समय की बात जब अकस्मात् ट्रेन में हम लोगों की मुलाकात हो गई थी ? उस समय तुम्हारी दृष्टि के द्वारा जिस मानसिक परिवर्तन की ओर मेरा ध्यान गया था, उसके कारण मुझे केवल विस्मय ही नहीं, बल्कि व्यथा भी हुई थी। तुम्हारे नेत्रों में उस तरह की सलज्ज और विषादमयी दृष्टि तो मैंने और कभी देखी नहीं थी ! उस दृष्टि से यह नहीं परिलक्षित हो रहा था कि तुम संसार की ममता से हीन हो, अपने आपको भूल चुकी हो। तुम्हारी उस समय की दृष्टि तो स्नेहमयी, प्रेममयी नारी की दृष्टि थी ! उसके द्वारा यह स्पष्ट हो गया था कि तुम्हारा मनोभाव अब परिवर्तित हो गया है !

“प्रभा, अब तर्क-वितर्क के लिए समय नहीं है। इस समय मुझे तुमसे केवल यही अनुरोध करना है कि अपात्र होने पर भी मैंने जो तुमसे प्रेम किया है, उसके लिए तुम मुझे क्षमा कर देना। मैंने देव-मन्दिर में प्रतिज्ञा की थी कि तुमसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखूँगा। बाहर से मैंने इस प्रतिज्ञा का पालन अवश्य किया है, किन्तु अपने अन्तःकरण में तो मैंने तुम्हारे लिए स्थान बना ही दिया था। इससे स्वभावतः आन्तरिक भाव से उस प्रतिज्ञा का पालन करने में मैं नहीं समर्थ हो सका।

इस मानसिक पाप को छिपा रखना मेरे लिए असह्य है प्रभा ! परन्तु क्या तुम मेरे इस प्रकार के मनोभाव का हाल जानकर दुःखी होओगी ? मुझसे क्रुद्ध होओगी ? परन्तु जीवन में तो मैंने अपना यह मनोभाव कभी प्रकट होने दिया नहीं ! इसके सिवा मैंने प्रतिज्ञा भी केवल यही की थी कि जीवन में तुमसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखूँगा । तो क्या अब मृत्यु की गोद में आश्रय प्राप्त कर लेने पर भी यह प्रतिज्ञा भंग कर देना मेरे लिए उसी प्रकार अनुचित होगा ?

“अच्छा प्रभा, अब मैं विदा हो रहा हूँ । परन्तु इस अवसर पर स्वार्थवश तुमसे यह अनुरोध करना मैं उचित नहीं समझता कि तुम मुझे कभी-कभी स्मरण करती रहना । मुझे भूल जाने में ही तुम्हें सुख मिलेगा । परन्तु फिर भी यदि कभी मेरी याद आ ही जाय तो समझ लेना कि इस पृथिवी के बाहर भी एक ऐसा जीव है जो तुमसे प्रेम करता है । मेरी मृत्यु से तुम दुःखी न होना । भगवान् करे, राधाकृष्ण के चरणों में तुम्हारी अचला भक्ति बनी रहे ।

“इस समय मेरी एक कामना अपूर्ण है । मैं चाहता हूँ कि मैं मृत्यु से पहले एक बार और तुम्हारी मूर्ति का दर्शन पा जाऊँ । यदि मैं किसी प्रकार मनोहरपुर पहुँच जाता और मन्दिर के द्वार पर से ही राधाकृष्ण के समीप पहले के ही समान बैठी हुई तुम्हें देख लेता तब फिर प्राण-त्याग करने में मुझे पूर्ण शान्ति मिलती । क्या भगवान् मेरी यह कामना पूर्ण करेंगे ?

चिरमङ्गलाकांक्षी तुम्हारा अयोग्य स्वामी
—देवनाथ”

पत्र पढ़कर प्रभा बड़ी देर तक निस्तब्ध भाव से बैठी रही । बाद को अपने को सँभाल कर वह उठी । उस समय वह एक अपूर्व प्रकार की शान्ति का अनुभव कर रही थी । वह सोच रही थी कि मेरे स्वामी मुझसे प्रेम करते हैं, मेरे समीप वे आ गये हैं । अब मेरी गोद में पड़े-पड़े

वे प्राण-त्याग कर सकेंगे । बस, मुझे और क्या चाहिए ? इतने ही से तो मैं कृतार्थ हो गई ।

अकम्पित चरणों से प्रभा पति की मृत्यु-शय्या के समीप गई । बहुत अनुनय-विनय करके उसने नर्म को वहाँ से हटाया । तब वह घुटनों के बल भूमि पर बैठ गई । स्वामी के चेतनाहीन और शीतल शरीर को वड़ी ही सावधानी के साथ खींचकर वह हृदय के समीप ले आई और अपने कोमल बाहु के ऊपर उसका मस्तक रखकर एक दृष्टि से वह उसके मुँह की ओर ताकने लगी । उस समय उसके हृदय में न तो वेदना थी और न नेत्रों में जल था । रोगी का भी शरीर उस समय उतना शीतल नहीं था । सम्भवतः चेतना प्राप्त करके वह सो रहा था ।

बहुत-सा समय इसी प्रकार व्यतीत हुआ । अन्त में रोगी ने एक बार धीरे से साँस लेकर आँख खोल दी । अत्यन्त ही क्षीण स्वर में उसने कहा—मैं कहाँ हूँ ? मनोहरपुर कितनी दूर है ?

प्रभा ने कहा—दूर कहाँ है ? तुम वहीं तो हो, अपनी प्रभा के पास ।

“प्रभा ? अपनी प्रभा के पास हूँ मैं ?”

देवनाथ ने बहुत ही क्षीण और अस्पष्ट स्वर में यह बात कही । उसके उस स्वर में विस्मय की काफ़ी पुट थी ।

प्रभा ने संयत कण्ठ से कहा—जी हाँ, तुम अपनी प्रभा के ही पास हो । ज़रा देखो तो, तुम्हारी दासी, तुम्हारी सेविका, तुम्हारी सहधर्मिणी आज तुम्हारे पास है । मिथ्या अहङ्कार के वशीभूत होकर तुम्हारी आत्मा को जो क्लेश दिया है उसने, उसके लिए वह क्षमा माँग रही है । इस समय उसका वह भ्रमपूर्ण अज्ञान दूर हो गया है । अब वह तुम्हें प्यार करके धन्य हो गई है ।

“तो क्या तुम मुझे प्यार करती हो प्रभा ?”

भावों के आवेग के कारण प्रभा इस प्रश्न का उत्तर न दे सकी । अपनी कोमल बाहु पर पति का मस्तक रखकर वह जिस प्रकार बैठती थी, उसी प्रकार निश्चल और निस्तब्ध भाव से घंटों बैठी रही । उस

समय उसके एकनिष्ठ और एकाग्र हृदय में भय, चिन्ता और शोक कुछ भी वर्त्तमान नहीं था। समस्त इन्द्रियों के द्वार रुद्ध हो गये थे। वह अपने सती-चित्त की समस्त शक्ति को उदबुद्ध करके अपने मृतवत् स्तब्ध स्वामी के शरीर में अपने जीवन की जीवनीशक्ति उँडेल देना चाहती थी। उसका विश्वास था कि सती-शिरोमणि सावित्री के समान ही मैं भी मृत्यु से युद्ध करके अपने स्वामी को बचा लूँगी।

डाक्टर आ-आकर कितनी बार लौट गये, किन्तु प्रभा का ध्यान भंग करने का साहस उन्हें नहीं हुआ। उन्होंने कहा, चलो अच्छा है। प्रभा की यह एकाग्र निष्ठा रोगी के लिए जितनी प्रभावोत्पादक होगी, उतना उपकार हमारे चिकित्सा-विज्ञान-सम्बन्धी पाण्डित्य के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि हम तो इसके रोग को कुछ समझ ही नहीं पाते हैं।
